प्रकाशक
साहित्य भवन लि०
इलाहाबाद

गौड़जी की अन्य छात्रोपयोगी रचनाएँ

१.	निबन्ध-कला	३॥)
२.	प्राचीन कवियों की काव्य-साधना	२॥)
३.	आधुनिक कवियों की काव्य-साधना	३)
४.	हमारे कवि	२॥।)
५.	नोंक झोंक (बाल-साहित्य)	॥)
६.	म्याऊँ की दावत	॥)
७.	म्याऊँ की पूँछ	॥)
८.	ठगों का चाचा	॥)
९.	गड़बड़झाला	॥)

मुद्रक
जगतनारायणलाल
हिन्दी साहित्य, प्रेस
प्रयाग

चिरंजीव नरेन्द्रमोहन गौड़ को सस्नेह भेंट

राजेन्द्रसिंह गौड़

है। इस प्रकार पुस्तक यथा शक्ति उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। इस सम्बन्ध में हमें यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होती कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभदायक है।

इस पुस्तक की रचना में हमें प्रायः उन सभी आलोचकों की अमूल्य रचनाओं से सहायता लेनी पड़ी है जिन्होंने प्राचीन तथा आधुनिक कवियों पर अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। अतः हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हमें आशा है, विद्यार्थियों को यह पुस्तक अवश्य पसन्द आयेगी और इसके द्वारा उनमें आलोचना के प्रति अनुराग उत्पन्न होगा।

भगवत क्वारटर्स,
अतरसुइया, प्रयाग
२७—७—४८

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—संत कबीर	...	१
२—भक्त सूरदास	...	६
३—नरोत्तमदास	...	१८
४—मलिक मुहम्मद जायसी	...	२७
५—मीराँबाई	...	३४
६—गोस्वामी तुलसीदास	...	४५
७—नन्ददास	...	६१
८—रहीम खानखाना	...	७३
९—आचार्य केशवदास	...	८६
१०—कविवर रसखान	...	९५
११—महाकवि बिहारीलाल	...	१०३
१२—कविवर भूषण	...	११२
१३—कवीश्वर देवदत्त	...	१२०
१४—घनानंद	...	१३०
१५—गोस्वामी दीनदयालु गिरि	...	१३९
१६—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	...	१४५
१७—श्रीधर पाठक	...	१६०
१८—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	...	१६५
१९—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	...	१७६
२०—मैथिलीशरण गुप्त	...	१८४
२१—माखनलाल चतुर्वेदी	...	१९४
२२—जयशंकरप्रसाद	...	२०१

२३—रामनरेश त्रिपाठी ... २१३
२४—गोपालशरण सिंह ... २१८
२५—सियारामशरण गुप्त ... २२४
२६—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ... २३०
२७—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ... २३७
२८—सुमित्रानंदन पन्त ... २४३
२९—सुभद्राकुमारी चौहान ... २५०
३०—रामकुमार वर्मा ... २५८
३१—महादेवी वर्मा ... २६४
३२—रामधारीसिंह 'दिनकर' ... २७१

—१—

संत कबीर

जन्म सं० १४५५ मृत्यु सं० १५७५

संत कबीर का जन्म कब और कहाँ हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कबीरपंथियों का विश्वास है कि वह ज्योति-स्वरूप होकर लहरतारा के कमल-पत्र पर अवतीर्ण हुए थे। इसी प्रकार उनमें यह भी किंवदन्ती है कि उनका जन्म स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। उस विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लज्जा के भय से उन्हें लहरतारा के निकट फेंक दिया। संयोगवश नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उसी मार्ग से जा रहा था। नीरू सन्तानहीन था, अतएव उसने नवजात शिशु के करुण क्रन्दन से द्रवीभूत होकर उसे उठा लिया और पुत्रवत् उसका पालन-पोषण किया। परन्तु इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार उनकी जन्म तिथि ज्येष्ठ अमावस्या सम्वत् १४५५ मानी जाती है और यह अनुमान किया जाता है कि वह मगहर के एक मुस्लिम जोगी-परिवार में उत्पन्न हुए थे। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह सिकन्दर लोदी के समय में जीवित थे और कपड़ा बुनकर अपनी जीविका चलाते थे।

जीवन-परिचय

कबीर बाल्यावस्था से ही भावुक थे। जोगियों के परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी भावुकता और सहज धार्मिक भावना को अधिक प्रोत्साहन मिला। वह साधु-सन्तों के साथ रहने लगे और उनके उपदेशों से लाभ उठाने लगे। इसी धर्मानुराग के कारण हिन्दू-

धर्म की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने काशी में स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार की। ऐसा करना उनके लिए आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि उस समय गुरुहीन उपदेशक पर लोगों की श्रद्धा नहीं होती थी। इसीलिए गुरु न करने पर जब कबीर भजन गा-गाकर लोगों में अपने उपदेशों का प्रचार करने लगे तब वह 'निगुरा' कहकर सम्बोधित किये जाने लगे।

कहा जाता है कि कबीर ने लोई नाम की एक स्त्री से अपना विवाह किया था और उससे कमाल नाम का एक पुत्र और कमाली नाम की एक पुत्री थी। कबीरपंथी साधुओं का कथन है कि लोई उनकी शिष्या मात्र थी, पत्नी नहीं। वह एक वनखंडी वैरागी की पोष्य पुत्री थी जिसे उसने लोई (ऊनी चादर) में लिपटा हुआ पाया था। कबीर की भक्ति-भावना देखकर वह उनके साथ रहने लगी थी। परन्तु इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

कबीर की मृत्यु सम्वत् १५७५ में मगहर में हुई। कबीरपंथियों का कहना है कि जब उनके शव को हिन्दुओं ने जलाना तथा मुसलमानों ने दफनाना चाहा तब वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ फूल बच रहे। इन फूलों को हिन्दू तथा मुसलमान शिष्यों ने आपस में बाँट लिया। यह किंवदन्ती भी निराधार और ऐतिहासिक प्रमाण-रहित है। इस समय मगहर में उनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि और एक मकबरा बना हुआ है।

कबीर ने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। अपने को कवि घोषित करना उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों का संकलन किया।

कबीर की रचनाएँ

यह संकलन बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—साखी, सबद और रमैनी। इन रचनाओं के अतिरिक्त ऐसे अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं जिनमें कबीर के उपदेश मिलते हैं, परन्तु उनकी भाषा इतनी अशुद्ध है कि

सहसा उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इनमें बहुत से पद तो ऐसे मिलते हैं जो कबीर के नाम से उनके शिष्यों ने लिख दिये हैं। इस समय कबीर की कविता के कई संग्रह मिलते हैं।

कबीर ज्ञानी भक्त थे। इसलिए उनके धार्मिक सिद्धान्तों में मस्तिष्क और हृदय दोनों का योग था। जिन सिद्धान्तों को उनका हृदय और मस्तिष्क एक होकर स्वीकार करता था उन्हीं का प्रचार वह उचित समझते थे। उन्होंने अपने चारों ओर फैले हुए अनेक मत-मतान्तरों पर पैनी दृष्टि डाली थी और उनका सार अपनी विचार-धारा के अनुसार ग्रहण किया था। इसीलिए हमें उनके धार्मिक सिद्धान्तों में स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद, स्वामी रामानन्द का भक्तिवाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद, नाथपंथ का हठयोगवाद और सूफियों की शान्तिमयी उपासना एक साथ मिलती है। इस प्रकार कबीर का धर्म विश्व-धर्म है। उसमें सबके लिए समान रूप से स्थान है।

कबीर की भक्ति का स्वरूप

कबीर संत मत के प्रवर्तक थे। संत मत में कबीर का ईश्वर एक है, उसका रूप नहीं है, आकार नहीं है। ऐसे निर्गुण और सगुण से परे ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने भक्ति को स्थान दिया है। निराकार की उपासना हो सकती है, उसकी प्रेम-पूर्ण भक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि कबीर की भक्ति का स्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं आता। उनकी भक्ति को हम न तो निराकार की उपासना कह सकते हैं और न साकार ईश्वर की भक्ति ही। उनकी भक्ति बेमेल खिचड़ी सी है।

कबीर की कविता का स्वरूप समझने के लिए हमें यह याद रखना चाहिए कि उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान और काव्यगत दृष्टिकोण गौण था। उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों तथा उपदेशों का प्रचार काव्य का सहारा लेकर किया था। उनके समय में हिन्दी-साहित्य न तो भावों की दृष्टि से सम्पन्न था और न भाषा की दृष्टि से। अतः साहित्य के क्षेत्र

कबीर की काव्य-साधना

में कबीर भविष्य के स्रष्टा थे। उन्होंने सर्वप्रथम धर्म जैसे गंभीर विषय को जन-समुदाय की भाषा में स्थान दिया। उन्होंने इस दिशा में अपना पथ स्वयं निर्माण किया। वह हिन्दी-साहित्य के धार्मिक काल के नेता थे। नेता के रूप में कबीर ने जितने साहस और जितने आत्मविश्वास के साथ अपनी आत्मा का, अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का, अपनी अनुभूतियों तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तों का चित्रण किया वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनका काव्य उनके हृदय का प्रतिबिम्ब है। इस प्रतिबिम्ब को देखकर किसी पारखी को उनके विषय में धोखा नहीं हो सकता। वह धोखा देनेवाली बात ही नहीं कहते थे। उनका ज्ञान उनकी अनुभूतियों का फल था। शास्त्रीय ज्ञान के वह पंडित नहीं थे। इसीलिए उनकी वाणी में, उनके तर्कों में, उनके कथन में स्पष्टता है। अपने अनुभव-जन्य ज्ञान के बल पर उन्होंने जी खोलकर खुले शब्दों में हिन्दू तथा मुसलमानों के दैनिक धार्मिक जीवन के पाखण्ड की भर्त्सना की है। उनके कथन में जो तीखापन है, जो उपालंभ है, तीर की तरह चुभने की जो शक्ति है उसमें कबीर का अपनत्व है। वह किसी की भर्त्सना उसे नीचा दिखाने के लिए नहीं करते। वह प्रत्येक से सीधे-सादे खुले शब्दों में कहते हैं। अपने आत्मविश्वास के कारण और इस उद्देश्य से कि उसमें जो अधार्मिकता आ गई है उससे उसका उद्धार हो जाय।

हमें कबीर का कवित्व उनके प्रताड़ना के पदों में देखने को नहीं मिलता। हमें मिलता है उनका कवित्व उन पदों में जिन्हें वह अपनी मौज में, अपनी मस्ती में, अपनी तन्मयता में रचा करते थे। उस समय उनकी कविता सनातन कवित्व का शृङ्गार होती थी। उनकी रहस्यवादी रचनाओं में आत्मा की परमात्मा से मिलने की जो तड़प है, ससीम की असीम में आत्मसात् होने की जो व्याकुलता है, असीम की सीमा को पाने के लिए जो चंचलता है वही उनके कवित्व के परख की कसौटी है। कबीर का रहस्यवादी काव्य किसी भी रहस्यवादी कवि

की कविता से टक्कर ले सकता है। संयोग और वियोग के चित्रण में कबीर किसी रहस्यवादी से पीछे नहीं हैं। यह बात अवश्य है कि उनके वियोग में उछल-कूद नहीं है। उनका प्रेम ज्ञान पर अवलंबित है। वह ज्ञानी भक्त हैं। इस दृष्टि से कबीर अपने क्षेत्र के सृष्टा और नेता हैं। वह युग-प्रवर्तक और युगान्तरकारी कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

कबीर की कविता के मुख्यतः तीन विषय हैं—प्रताड़न, उपदेश और स्वानुभूति-चित्रण। इन तीनों में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। वह प्रताड़न करते हैं अधार्मिकता के लिए। परमात्मा की भक्ति में जाति-पाँति का भेद, ऊँच-नीच का भाव, रूढ़िगत परम्पराओं का अनुसरण, मूर्तिपूजन, तिलक-छाप, रोज़ा-नमाज, योग की क्रियाएँ आदि के लिए फटकारना उनके सन्त-स्वभाव का द्योतक है। उनकी भर्त्सना में चिढ़ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव है :—

दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥

× ×

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलैं, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैलैं बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलैं, काम जराय जोगी बन गैलैं हिजरा॥

कबीर के उपदेश-सम्बन्धी पदों में जीवन की दार्शनिकता भरी हुई है। उनमें गुरु-महिमा, ईश्वर-महिमा, प्रेम-महिमा, सत्संग-महिमा, माया का फेर आदि का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है। उनके पदों से जीवन में उनकी गहरी पैठ का आभास हो जाता है। उनके कवित्व का भी आभास हमें उनके ऐसे ही पदों से मिलने लगता है। उनकी ऐसी रचनाएँ प्रायः उनके चिन्तन और मनन का परिणाम होती हैं, उनकी भक्ति का स्वरूप नहीं। देखिए :—

अरस-परस कछु रूप-गुन, नहिं तँह संख्या आहि।
कहै कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिये ताहि॥

× ×

साईं इतना दीजिए, जामैं कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

× ×

सतगुर दीन दयाल हैं, दया करी मोहिं आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय॥
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है हम नाहिं।
प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं॥

कबीर की कविता का तीसरा विषय है उनकी स्वानुभूति। यही उनका सर्वप्रिय विषय है। उनके सभी धार्मिक तत्त्व, उनकी समस्त साधना, उनकी समस्त चिन्ता कविता का सहारा पाकर सहस्र मुख से मुखरित हो उठी है। काव्य की शास्त्रीय तुला पर तौलने से उसमें दोष अवश्य मिलते हैं, पर भावनाओं का तारतम्य, रूपकों की योजना और स्वाभाविक अलंकारों की छटा उसमें स्वाभाविक रूप से मिलती है और ऐसा आभास होने लगता है कि वह उच्च कोटि के कवि हैं। जिस सन्त ने 'मसि कागज छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' उसकी वाणी सुनकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वह काव्य-शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उनका रहस्यवाद उच्च कोटि का काव्य है।

कबीर की शैली

कबीर अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप है कि सहस्रों कवियों के बीच वह शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। सरलता, सुबोधता और स्पष्टता उनकी विशेषताएँ हैं। उनकी शैली से किसी को भ्रम नहीं होता। खण्डन-मण्डन में दोहे और स्वानुभूति के चित्रण में भजन तथा गीतों का उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। उनके कुछ ऐसे भी छन्द मिलते हैं जिनका देहातों में

प्रचलन हैं। छंद-शास्त्र तथा अलंकार-विज्ञान का ज्ञान न होने के कारण उनके पदों में बहुत शिथिलता पाई जाती है। तुकान्तादि वेष-भूषा के रहने पर भी छन्द-दोष, मात्रा की न्यूनता और पुनरुक्ति आदि त्रुटियाँ उनकी रचनाओं में बहुत पाई जाती हैं। उनके कुछ छन्द अतुकान्त भी हैं।

कबीर की शैली में उलटवासियाँ और अन्योक्तियाँ भी मिलती हैं। उनकी उलटवासियाँ अर्थपूर्ण होने पर भी सरल नहीं हैं। उनकी अन्योक्तियाँ अवश्य सरल और अर्थपूर्ण हैं। उनका भाव समझने में कठिनाई नहीं होती। उनकी तर्क-शैली विचित्र है। उनके तर्क शास्त्रीय तुला पर ठीक नहीं उतरते। इसका प्रथम कारण यह हो सकता है कि वह शास्त्रीय ज्ञान से शून्य थे। उसे जानने की उन्होंने कभी चेष्टा भी नहीं की। आत्मा की पवित्रता में विश्वास रखनेवाले उस साधु को तो उस श्रेणी के लोगों में उपदेश देना था जो दरिद्र थे, दीन थे, पतित समझे जाते थे, वेद और शास्त्र के अधिकारी नहीं थे। ईश्वर के ऐसे बन्दों के प्रति कबीर का कथन था :—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल-मुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

अपने इस कथन से कबीर ने उस समय की दूषित मनोवृत्ति का परिष्कार तो किया ही, उन हरिजनों की आत्म-शुद्धि के लिए उन्होंने जो तर्क-शैली अपनाई उससे भी सब का—ऊँच-नीच, मूर्ख-पंडित का संस्कार हुआ। उनकी तर्क-शैली ग्रामीण थी, पर वह थी चुटीली, प्रभावशाली और अपने लक्ष्य पर पहुँचनेवाली।

कबीर बहुश्रुत सन्त थे। भारत के विविध प्रान्तों के साधकों से उनका सत्संग होता रहता था। इसलिए कबीर की भाषा उनकी अपनी भाषा नहीं थी। वह एक बेमेल खिचड़ी थी, जिसमें अवधी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पूर्वी हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, राजस्थानी तथा पंजाबी भाषा के शब्द मिलते थे। वह भाषा के पारखी नहीं थे। भाषा का कोई साहित्यिक

कबीर की भाषा

रूप भी उनके सामने नहीं था। ऐसी दशा में उनको अपने विचारों और सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए भाषा का रूप स्वयं स्थिर करना पड़ा। उन्होंने एक सच्चे कलाकार की भाँति अपने भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रत्येक चलती बोली से शब्द लिया और उसे अपने भावों के योग्य बनाकर अपनी रचनाओं में स्थान दिया। इसलिए उनकी भाषा में जहाँ हमें 'बतियाँ' 'रतियाँ' आदि पूर्वी भाषा के शब्द मिलते हैं वहाँ संस्कृत के 'प्रतीत, निरंजन, स्थूल' और फ़ारसी तथा अरबी के 'ख़ालिक, नमाज़, नज़र, इश्क' आदि शब्द भी प्रचुर संख्या में मिलते हैं। इन शब्दों का वह अपने छन्दों की गति और लय के अनुसार ही प्रयोग करते हैं। अपने भावोन्माद में उन्हें भाषा की चिन्ता नहीं रहती। वह अपनी रुचि के अनुसार उसे तोड़-मरोड़कर इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि कभी-कभी उसका वास्तविक रूप ही छिप जाता है। परन्तु इतना करने पर भी उन्होंने अपनी भाषा में पूर्वी हिन्दी का अत्यधिक प्रयोग किया है। उनकी भाषा-सम्बन्धी इस योग्यता से यह भ्रम न होना चाहिए कि भाषा-निर्माण उनका उद्देश्य था। वह सन्त थे। भाषा और साहित्य की कला से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। परन्तु हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने परोक्ष रूप से भाषा का जो रूप स्थिर कर दिया वह भविष्य के लिए हिन्दी-कवियों का विचार-वाहन होने में अपनी योग्यता प्रमाणित कर सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर कवि नहीं थे। उनकी कोई स्थिर भाषा भी नहीं थी। उनका छन्द-ज्ञान भी अल्प था, उनकी कविता में अलंकारों का चमत्कार भी नहीं था, पर उत्कृष्ट चिन्तन का अभूतपूर्व संयोग उनकी सधुक्कड़ी बानी में हुआ। उनकी उक्तियों में पाठकों को चमत्कृत कर देने की अभूतपूर्व क्षमता है। दाम्पत्य प्रेम की परिधि में ही उनकी आध्यात्मिक प्रणय-भावना का विकास हुआ है। उनकी कविता में हठयोग के सिद्धान्त भी मिलते हैं। निर्गुणवाद

का सहारा लेकर उन्होंने परोक्ष रूप से अपनी रचनाओं में सगुणवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। इन बातों पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि वह कवि न होकर भी कवि थे। हिन्दी के संत और ज्ञानधारा के कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च है।

—२—

भक्त सूरदास

जन्म सं० १५३५ मृत्यु सं० १६२०

सूरदास का जन्म सम्वत १५३५ के लगभग माना जाता है और उनकी जन्म-भूमि रुनकुता ग्राम में बताई जाती है। यह स्थान आगरे जानेवाली सड़क पर अवस्थित है। कुछ लोग उनकी जन्म-भूमि दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम बताते हैं। कहा जाता है कि वह सारस्वत ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम रामदास था।

जीवन-परिचय

वह बाल्यावस्था से ही भगवान के प्रेम में रँग गये थे। उनकी शिक्षा किस प्रकार हुई, यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर आधुनिक अनुसन्धानों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वह रुनकुता—रेणुका क्षेत्र के समीप गऊघाट पर साधु-जीवन व्यतीत करते थे। संगीत के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। मस्ती के क्षणों में वैरागी सूर अपना तानपूरा छेड़कर कुछ गुनगुनाया करते थे। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्यजी से उनकी भेंट हुई। उन्होंने स्वामीजी को स्वरचित एक पद गाकर सुनाया। वह पद स्वामीजी को बहुत पसन्द आया। उन्होंने सूर को अपने धर्म में दीक्षित किया और श्रीमद्भागवत की कथाओं

को सुललित गेय पदों में रूपान्तरित करने का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा का भार सूर को सौंप दिया। उस समय से निरन्तर वह काव्य-मनीषी साधना-संलग्न रहकर श्रीकृष्ण की पावन लीलाओं का गुणगान करते रहे।

सूरदासजी अन्धे थे, पर वह जन्मांध नहीं थे। इस सम्बन्ध में जनश्रुति है कि उन्होंने अपनी युवावस्था में किसी सुन्दरी को देखकर अपनी आँखें फोड़ ली थीं। यह भी कहा जाता है कि वह अपनी अन्धावस्था में एक बार कुएँ में गिर गये थे और छः दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन उन्हें किसी ने निकाला। अपने रक्षक को कृष्णभगवान समझकर उन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया, पर वह हाथ छुड़ाकर भाग खड़े हुए। इस पर उन्होंने यह दोहा कहा :—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, सबल बखौना तोहि॥

सूरदास की मृत्यु महाप्रभु वल्लभ के सुयोग्य पुत्र विट्ठलनाथ की उपस्थिति में पारसौली नामक ग्राम में हुई। वह अपने अन्तिम समय तक अपने पद गाते रहे और इस प्रकार संवत् १६२० के लगभग उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

सूरदासकृत पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं—१. सूरसागर, २. सूर-सारावली, ३. साहित्य-लहरी, ४. नल-दमयन्ती और ५. ब्याहलो।

सूर की रचनाएँ

इनमें से पिछले दो ग्रन्थ अप्राप्य हैं और उनके सूरकृत होने में भी सन्देह है। इस प्रकार उनके तीन ग्रन्थ रह जाते हैं—सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी। इन तीनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता लगता है कि वे वास्तव में तीन ग्रन्थ नहीं हैं।

सूरदास उच्च कोटि के भक्त थे। उनके इष्टदेव थे कृष्ण।

कृष्ण की भक्ति में उनका अटूट विश्वास था। सूरसागर के दशम स्कन्ध में जिन नव अवतारों की कथा वर्णन की गई है उनमें रामावतार की कथा का सविस्तर वर्णन नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने परम्परा मात्र का पालन किया है। राम उनके उपास्य हैं भी और नहीं भी हैं। पर उनकी कृष्ण-कथा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। वह अपनी कृष्ण-कथा में एक प्रकृत भक्त के रूप में हमारे सामने आते हैं। आरम्भ में उनकी भक्ति का स्वरूप सेवक-सेव्य भाव का रहा है। उनकी भक्ति में वही विनय, वही दैन्य, वही आत्मसमर्पण, वही कारुण्य है जो तुलसी का अपने इष्टदेव राम के प्रति है। पर आगे चलकर उनकी भक्ति-भावना के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के परिवर्तन का कारण उनकी भक्ति-भावना पर स्वामी वल्लभाचार्य के पुष्टि मत का प्रभाव है। पुष्टिमार्ग में कृष्ण की लीलाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वल्लभाचार्य को दास्य-भाव की दैन्य-प्रधान भक्ति प्रिय नहीं थी। उनकी भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि को ही विशेष महत्त्व प्राप्त था और सखा-भाव से कृष्ण का सानिध्य प्राप्त किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि स्वामी वल्लभाचार्य के धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् सूर की भक्ति का स्वरूप सेवक-भाव से सखा-भाव में परिणत हो गया। इसी से सूरसागर में विनय के पदों के पश्चात् सख्य-भक्ति के पदों का बाहुल्य हो गया।

सूर की भक्ति का स्वरूप

सूर की सख्य-भक्ति का विकास दो रूपों में हुआ है—१. गोप-ग्वाल और कृष्ण के प्रसङ्ग में और २. राधा और कृष्ण के प्रसंग में। गोप-ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य-भाव के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे बालकृष्ण के सच्चे सखा हैं। माखन चुराने में, खेल-कूद में, शरारत करने में, गोचारण में, गोपियों को छकाने में, झाँसा-पट्टी देने में, प्रेम-लीला में, लूट-खसोट में प्रत्येक क्षण उनका और कृष्ण का साथ

रहता है। सख्य-भक्ति का दूसरा स्वरूप है राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग में। इस प्रकार के प्रसङ्गों में उनकी सख्य-भक्ति का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। कृष्ण के सखा होने के नाते उन्होंने जिस प्रकार बाल-मित्र के रूप में बाल-कृष्ण की भक्ति की है उसी प्रकार एक तरुण मित्र के रूप में वह तरुण कृष्ण में प्रेम-व्यापारों में उनका साथ देते रहे हैं। इन अवसरों पर कृष्ण का उनसे कोई पर्दा नहीं है। वह बाहर भी कृष्ण के साथ हैं और अन्तःपुर में भी। वह सर्वत्र अपने सखा के साथ हैं। कोई बात, कोई प्रेम-व्यापार उनसे छिपा नहीं है। कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार उनकी आँखों के सामने होता रहता है और वह उसके चित्र उतारा करते हैं।

सूर की काव्य-साधना

सूर की काव्य-साधना का मुख्य ध्येय है प्रेम-निरूपण। अपने इस ध्येय में उन्हें पूरी सफलता मिली है। प्रेमी ही प्रेम के आघात-प्रतिघातों को समझता है। सूर सच्चे प्रेमी हैं। उनके हृदय में प्रेम का ज्वार उठता रहता है। वह प्रेम के आघात-प्रतिघातों को समझते हैं। इसलिए जीवन के विविध क्षेत्रों में जहाँ-कहीं भी प्रेम देखते हैं उसका चित्रण अपनी अनुभूति के बल पर करते हैं। उन्होंने माता का हृदय टटोला है, पिता के हृदय को परखा है, गोप-गोपिकाओं के हृदय में प्रवेश किया है, राधा के हृदय में घुसकर उसके प्रेम की परीक्षा ली है।

विषय के अनुसार सूर के पदों का विभाजन चार प्रकार से हो सकता है—१. विनय और महिमा के पद, २. अवतार की कथाएँ ३. कृष्ण की लीलाएँ और ४. दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी पद। विनय और महिमा के पदों में भगवान की प्रार्थना के पद, विनय के पद और भक्ति के पद हैं तथा सन्तमहिमा, गुरु-महिमा आदि का वर्णन है। अवतार की कथाओं में प्रायः सभी अवतारों को स्थान दिया गया है। कृष्ण की लीलाओं में बाल-लीला, गोचारण, दानलीला, मानलीला, मुरली-

माधुरी आदि का स्फीत चित्रण है। दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी पदों में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इस प्रकार इन समस्त विषयों के निरूपण से सूरसागर एक विशाल काव्य-ग्रन्थ बन गया। इस काव्य की गणना मुक्तक काव्य, अथवा गीतात्मक काव्य में होती है।

कृष्ण की बाललीला वात्सल्य रस-प्रधान अंश है। इसी अंश के चित्रण से सूर की काव्य-प्रतिभा का विकासारम्भ हुआ है। सूर ने अपने गीतों में कृष्ण के जन्म से उनकी तरुणावस्था तक के जो शाब्दिक चित्र उतारे हैं वे अपने में महान हैं। बाल-स्वभाव के वर्णन में वह बेजोड़ हैं। हिन्दी का ही क्यों, विश्व का कोई कवि इस क्षेत्र में उनके सामने नहीं टिक सकता। इसका मुख्य कारण है उनके हृदय की सरलता। सूर का हृदय बालकों का हृदय है। मातृ-हृदय का मर्म वह समझते हैं। इसलिए बालस्वभाव के चित्रण में वह एक तरह का अपनापा अनुभव करते हैं। अपने इष्टदेव कृष्ण के बाल-रूप पर वह मुग्ध हैं और सौ-सौ तरह से उसका बखान करते हैं। उन्हें सन्तोष नहीं होता अपने बखान से। एक बात और है। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही महत्त्व है। इसलिए बाल-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घुसकर वह बालकृष्ण के परम मनोरम चित्र उपस्थित करते हैं। इस प्रकार के चित्र चार भागों में विभाजित किये जा सकते हैं:—१. रूप-सौन्दर्य के चित्र, २. चेष्टाओं और क्रीड़ाओं के चित्र, ३. अन्तर्भावों के चित्र और ४. संस्कारों, उत्सवों तथा समारोहों के चित्र।

रूप-सौन्दर्य के चित्र प्रस्तुत करने में सूर ने बालकृष्ण के लौकिक और अलौकिक, दोनों पक्षों पर ध्यान रखा है। बालकृष्ण जन्म लेते ही अपने विराट् रूप का दर्शन कराते हैं। अनेक स्थलों पर, अनेक अवसरों पर, असुरों के बध के समय वह अपने इस रूप का परिचय सबको देते हैं, पर इतना जानते हुए भी उनके लौकिक चरित्रों में इतना आकर्षण है, इतनी तन्मयता है कि उनका वह रूप शीघ्र सामने

नहीं आता, इसलिए सूर के रूप-सौन्दर्य-स्थापन में काव्य-कला की दृष्टि से कोई बाधा नहीं पड़ती। बालकृष्ण की चेष्टाओं तथा क्रीड़ाओं के चित्र भी रूप-सौन्दर्य के चित्रों की भाँति ही मनमोहक हैं। कृष्ण कभी मचलते हैं, कभी नाचते हैं, कभी परछाईं पकड़ते हैं, कभी नन्द के साथ खाना खाने बैठते हैं, कभी झूठ भी बोलते हैं। इन समस्त बाललीलाओं से बाल-जीवन का सौन्दर्य फूटा पड़ता है। कृष्ण नट-खट बालक हैं; बाल चपलता उनकी नस-नस में भरी हुई है। माखन चुराकर खाने में, पनिहारियों को तंग करने में, चलते हुए लोगों के साथ छेड़खानी करने में, दही और दूध लूटने में, गोपिकाओं का वस्त्र नोचने में, खेल में बाजी हार जाने पर दाँव न देने में, अपनी बारी आने पर सब को धक्का देने में, मीठी-मीठी बातें बनाने में, झूठ बोलने में वह सिद्धहस्त हैं। झूठ बोलने और बातें बनाने का एक उदाहरण लीजिए :—

मैया ! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिल मेरे मुख लपटायो।

कौन ऐसी माता है जो अपने बालक के इस भोलेपन पर न रीझती हो ! पर सभी अवसरों पर बालकों का यह जादू नहीं चलता। इस बार तो वह झाँसा-पट्टी पढ़ाकर बच गये, यशोदा ने उन्हें गले लगा लिया। पर उलाहना मिलने पर, अधिक शरारत करने पर वह पीटे गए हैं और खूब पीटे गए हैं। ऐसे अवसरों पर यशोदा ने उन्हें क्षमा नहीं किया है। अब अन्तर्भावों के चित्र लीजिये। सूर ने इस क्षेत्र में भी कमाल किया है। बालकों के हृदय में स्वाभाविक रूप से जो भाव उठा करते हैं उनका चित्रण भी सूर ने उनके हृदय में पैठकर किया है। बालकृष्ण की स्पर्धा का इन पंक्तियों में रस लीजिए :—

मैया ! कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी-ज्यों ह्वै है लांबी मोटी ॥

सूर के वात्सल्य का वर्णन कृष्ण-जन्म से होता है। इसलिए सूर ने विविध उत्सवों का वर्णन बड़ी सफलता से किया है। छट्ठी-व्यवहार-वर्णन, अन्नप्राशन-लीला, वर्षगाँठ लीला, कनछेदन-लीला, घुटरुवनि चलनि, पायन चलनि इत्यादि की बड़ी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन झाँकियों का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। यशोदा के लिए जो वात्सल्य भाव है वही भक्तों की भक्ति की आधार-शिला है, सर्वस्व है।

कृष्ण की बाल्यावस्था के चित्रण के बाद सूर ने उनकी प्रेममयी लीलाओं के भी चित्र उतारे हैं। कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ उनकी तरुणावस्था के पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाती हैं। बाल्यावस्था में गोपियों के साथ कृष्ण की जो छेड़छाड़ है वह तरुणाई आते-आते प्रेम में परिणत हो जाती है। राधा स्वतः प्रेम की साकार प्रतिमा हैं। कृष्ण के प्रति उनका व्यक्तिगत प्रेम है। उन्हीं के द्वारा ब्रज के कण-कण में कृष्ण का प्रेम व्याप्त होता है। भक्ति की बेलि इसी क्रम में अंकुरित पल्लवित और पुष्पित होती है। इस प्रकार सूर की प्रेम-साधना व्यक्तिगत प्रेम की संकुचित परिधि से निकलकर सामाजिक रूप धारण करती हुई भक्ति-पथ का अनुसरण करती है और अन्ततः शान्त रस में परिणत हो जाती है।

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। उसका सम्बन्ध साधारण बोलचाल से है उनकी भाषा पर ब्रज के स्वाभाविक वातावरण का प्रभाव

सूर की भाषा

है। उनके पूर्व हिन्दी-साहित्य में या तो अपभ्रंश-मिश्रित डिंगल पाई जाती थी, या साधुओं की पँचमेली खिचड़ी भाषा। चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम रचना सूर की ही कही जा सकती है। उन्होंने साधारण बोलचाल की भाषा को अपनी भाव-धारा की खराद पर चढ़ाकर सजाया, सँवारा और साहित्यिक रूप दिया है। वह उसके परिमार्जक हैं। उनकी भाषा पूर्ववर्ती कवियों की भाषा की अपेक्षा

संयत, सुव्यवस्थित और गठी हुई है। कोमल पदों के साथ उनकी भाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, सजीव और भावों के अनुसार बन पड़ी है। माधुर्य और प्रसाद उसका मुख्य गुण है। ब्रज की चलती बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों को सन्निवेश करके उन्होंने ब्रजभाषा को उत्तराखण्ड की ही नहीं, समस्त भारत की भाषा बना दिया है। ठेठ ब्रजभाषा के शब्दों को भी उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया है। उनकी भाषा में फ़ारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, तथा बुन्देलखण्डी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, पर इसके कारण भाषा के प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्दों को उन्होंने उनके तत्सम रूप में नहीं, तद्भव रूप में प्रयुक्त किया है। कहीं-कहीं तुकान्त के लिए अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल रखने की आवश्यकता से प्रेरित होकर उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ भी दिया है। कहीं-कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं, पर अपनी भाषा पर उन्हें इतना अधिक अधिकार है कि उन्हें अपने भाव के अनुकूल शब्द खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने आप आते हैं और परिणामतः वर्णन में वेग और प्रवाह भर देते हैं। अपनी भाषा को सजीव बनाने के लिए उन्होंने उसमें मुहाविरों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग बड़े कौशल से किया है।

सूर की शैली

सूरदास का काव्य गीतिकाव्य है। उन्होंने अपनी रचना गेय पदों में की है। उनकी यह गीति-शैली जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति और कबीर से धरोहर के रूप में मिली है। सूर के विनय के पदों में सन्तों की पदावली का प्रतिबिम्ब प्रभूत मात्रा में है। वैसे ही शब्द, वैसे ही भावधारा, वैसा ही विन्यास इनमें पाया जाता है। इन पदों में बाहर नहीं; आत्मा को भीतर खोजने का विधान है। परन्तु यह सूर की पूर्वकालीन कृतियों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। महाप्रभु वल्लभ से दीक्षित

होने के अनन्तर उनकी काव्य-धारा में जो मोड़ आ गया है, उस पर विद्यापति और जयदेव का प्रभाव है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उन्होंने जयदेव और विद्यापति का अन्धानुकरण किया है। उन्होंने अपने प्रत्येक पद पर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित कर दी है। वह अपने प्रत्येक पद में अपने प्रकृत रूप में विद्यमान हैं। उनकी रचनाओं में जो व्यंग, सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एवं भाव-गाम्भीर्य है वह जयदेव और विद्यापति में नहीं है।

रस के आयोजन में, अलंकारों के प्रयोग में और भाषा को सजाने-सँवारने में सूर भावी कवियों के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में नये और अछूते विषयों की ओर संकेत किया है और कुछ विषयों को इतना सम्पूर्ण बना दिया कि अन्य कवियों के लिए स्थान ही नहीं रह गया। संगीत-प्रेमी होने के कारण उन्होंने अपने काव्य में स्वरों की कोमलता भर दी, भक्त होने के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में भाव भर दिये, कवि होने के कारण उन्होंने अपनी कृतियों में रस और अलंकारों का विधान कर दिया और कथाकार होने के कारण उन्होंने कृष्ण की कथा के साथ-साथ अन्य अवतारों की कथा का चित्र अंकित कर दिया। इस प्रकार सूर अपनी रचनाओं में चार रूपों में मिलते हैं। उनका प्रत्येक रूप अपने में महान् है। हिन्दी उन्हें पाकर कृतकृत्य हुई है।

— ३ —

नरोत्तमदास

जन्म सं० १५५० मृत्यु सं० अज्ञात

हिन्दी के अन्य सुप्रसिद्ध प्राचीन कवियों की भाँति कवि नरोत्तमदास के सम्बन्ध में भी हमें बहुत कम ज्ञात है। उनके विषय में 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि वह सं० १६०२ में जीवित थे और सीतापुर जिले के बाड़ी गाँव के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। हिन्दी में उनका 'सुदामा-चरित' ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इसका रचना-काल १५८२ बताया है। इससे किसी-किसी ने यह अनुमान लगाया है कि उनका जन्म सं० १५५० के लगभग हुआ होगा। उन्होंने 'ध्रुव-चरित' भी लिखा था, पर अभी तक वह अप्राप्य है। नागरी प्रचारिणी की खोज में 'विचार-माला' नाम की उनकी एक और पुस्तक का उल्लेख मिलता है, पर उसका भी पता नहीं है। इस प्रकार हम उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम बातें जानते हैं। उनका 'सुदामा-चरित' अवश्य हमें उपलब्ध है और उनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह हिन्दी के एक भावुक कवि और कृष्ण के भक्त थे।

जीवन-परिचय

नरोत्तमदास हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल के प्रथम यथार्थवादी कवि थे। 'सुदामा-चरित' में उन्होंने जिस विषय को स्पर्श किया है, उसे अपनी भक्ति-भावना और कथन-सौष्ठव से इतना सजीव और मंगलमय बना दिया है कि केवल उसी के आधार पर हम उनके मानव-जीवन के व्यापक अनुभवों की परिधि की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ हम संक्षेप में इसी काव्य-ग्रंथ पर विचार करेंगे :—

नरोत्तमदास की काव्य-साधना

[१] सुदामा-चरित का विषय—सुदामा-चरित एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसमें सुदामा के सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं का वर्णन न करके केवल कृष्ण-सुदामा की मित्रता का वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि जब श्रीकृष्ण अवन्तिकापुरी उज्जैन में कुलपति सांदीपन मुनि के पास विद्याभ्यास करते थे तब सुदामा भी उनके सहपाठियों में से थे। एक दिन गुरु-पत्नी ने उन दोनों को जङ्गल में लकड़ी लाने के लिए भेजा। जाते समय गुरु-पत्नी ने सुदामा को थोड़े-से चने भी दे दिये। यह बात श्रीकृष्ण को ज्ञात नहीं थी। जङ्गल में पहुँचकर दोनों ने लकड़ियाँ बटोरीं, पर जब उन्हें बाँधकर वे चलने को हुए तब रात होने और आँधी-पानी के आ जाने के कारण उन्हें सारी रात एक वृक्ष के नीचे रहना पड़ा। सुदामा को भूख लगी थी। चने पानी से भीग कर मुलायम हो गये थे। इसलिए वह चुपके-चुपके उन्हें चबा गये। कृष्ण भी भूखे थे, पर वह भूखे ही रह गये। दूसरे दिन सुदामा का यह क्षुद्र व्यवहार जब कृष्ण को ज्ञात हुआ तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् कृष्ण तो द्वारकाधीश हो गये, पर सुदामा को एक दरिद्र ब्राह्मण का जीवन व्यतीत करना पड़ा। एक दिन सुदामा की स्त्री ने आग्रह करके अपने पति को कृष्ण के पास भेजा। सुदामा कृष्ण के पास गये। कृष्ण ने अपने सहपाठी का यथोचित सम्मान किया। चलते समय प्रत्यक्ष रूप से तो कृष्ण ने उन्हें कुछ भी नहीं दिया, पर अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें सब कुछ दे दिया। इस प्रकार सुदामा ने यह समझा कि उन्हें कुछ भी नहीं मिला, पर जब वह घर आये तब उन्हें अपना वैभव देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा। यही कथा संक्षेप में 'सुदामा-चरित' का विषय है। यह कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के ८०वें अध्याय में वर्णित है।

[२] सुदामा-चरित की विशेषताएँ—बंगला, गुजराती तथा हिन्दी में सुदामाचरित सम्बन्धी कई रचनाएँ मिलती हैं; पर उन सब से नरोत्तमदास का सुदामा-चरित ही उत्कृष्ट है। इसका कारण उसकी

अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी पहली विशेषता तो यह कि उसके सभी पात्र सजीव हैं और पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। अतः वे हमारे सामने पारिवारिक जीवन की समस्याओं पर ही विचार करते हैं। सुदामा, सुदामा की स्त्री और श्रीकृष्ण तीनों की समस्याएँ पृथक-पृथक हैं, पर तीनों में नैतिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के निर्वाह तथा व्यक्तिगत समस्याओं के वर्णन में नरोत्तमदास को पूरी सफलता मिली है। उसकी दूसरी विशेषता है दीनता और समृद्धि के सजीव वर्णन द्वारा मित्रता का उच्चादर्श स्थापित करना। सुदामा दीन थे और कृष्ण समृद्धिशाली। इन्हीं दोनों के चित्रण में उनकी काव्य-शक्ति का विकास हुआ है। उनका दरिद्रता का चित्र जितना सम्पूर्ण है उतना ही समृद्धि का। एक के प्रतीक सुदामा हैं तो दूसरे के प्रतीक कृष्ण, पर दोनों में मैत्री है। इस मैत्री के उचित निर्वाह के लिए नरोत्तमदास ने जिन परिस्थितियों का निर्माण किया है उनसे सुदामा-चरित की तीसरी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में उनकी यही विशेषता उसे लोकप्रिय बनाने में सफल हुई है। नरोत्तमदास ने अपने ध्येय स्पष्ट करने के लिए दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जिन मार्मिक परिस्थितियों का निर्माण, चयन एवं संकलन किया है उनसे कथा को प्रवाह और भावों को उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। उनकी चौथी विशेषता कथोपकथन से सम्बन्ध रखती है। साहित्य में अच्छे कथोप-कथन के जितने लक्षण होते हैं उन सबका समावेश सुदामा-चरित में बड़ी सफलता-पूर्वक हुआ है। उसमें स्वाभाविकता, सजीवता, यथार्थता और शिष्टता इतनी उचित मात्रा में है कि पाठक उसमें तन्मय हो जाता है। उसकी पाँचवीं विशेषता मानव-हृदय के चित्रण से स्पष्ट हो जाती है। नरोत्तमदास ने मानव को दैनिक जीवन की परिस्थितियों के बीच रखकर उसकी मनोवृत्तियों का चित्रण किया है। सुदामा की स्त्री के हृदय से निकली हुई भावनाओं पर नारी-हृदय की छाप इतनी स्पष्ट है कि उसका पुरुष-हृदय पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार

सुदामा और कृष्ण भी अपने-अपने हृदयगत् भावों को बिना किसी संकोच के व्यक्त करते हैं। इससे सारा खंडकाव्य रोचक और हृदय-ग्राही हो गया है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी छठी विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन समाज का चित्र भी बड़े सुन्दर शब्दों में अंकित किया गया है। वर्णाश्रम की व्यवस्था का महत्त्व, भाग्यवाद में आस्था, असम मित्रता में मित्रता का चरमोत्कर्ष आदि प्राचीन सामाजिक वृत्तियों का अंकन सुदामा-चरित में बड़ी सुन्दरता से हुआ है।

[३] सुदामा चरित का भाव-पक्ष— नरोत्तमदास में अपने मनोभावों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने अपने इस छोटे से काव्य में जिस भाव को स्पर्श किया है उसका चित्र आँखों के सामने उपस्थित कर दिया है। दरिद्रता दूर करने का विषय लेकर सुदामा और उनकी स्त्री के बीच जो विवाद-सा छिड़ जाता है उसमें नारी-हृदय की दुर्बलताएँ और आकांक्षाएँ बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त हुई हैं। 'या घर ते कबहूँ न गए पिय, टूटो तवा और फूटी कठौती' में दरिद्रता का जो चित्र खींचा गया है वह नरोत्तमदास की काव्य-प्रतिभा का व्यंजक है। उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक, उत्कृष्ट और रोचक हुआ है। सुदामा की स्त्री में धन की लिप्सा के लिए जितना आग्रह और अपने वर्तमान जीवन के प्रति जितना असंतोष है उतना ही सुदामा में अपनी दरिद्रावस्था के प्रति संतोष और प्रेम है। सुदामा भाग्यवादी हैं। पर उनकी स्त्री भाग्यवाद को भगवान् की करुणा के आगे कोई महत्त्व नहीं देतीं। 'कृपानिधि की मिताई' में उनका अटल विश्वास है। वह भाग्यवादी नहीं हैं। उनका विश्वास है कि 'नाम लेत चौगुनी, गए ते द्वार सौ गुनी सो देखत सहस गुनी प्रीति प्रभु मानि हैं।' सुदामा भी भगवान् की करुणा में विश्वास करते हैं, पर वह नीतिज्ञ भी तो हैं। 'विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये' का भी तो उन्हें ध्यान है। इसलिए उनका स्वाभिमान उन्हें द्वारका जाने से रोकता है, पर स्त्री के आग्रह के आगे उनका सब तर्क निष्फल हो जाता

है। उन्हें द्वारका जाना ही पड़ता है। इस प्रकार नारी-हृदय की पुरुष-हृदय पर विजय होती है। यह विजय वस्तुतः नारी-हृदय के विलास की, नारी-हृदय की समस्याओं की विजय है। कवि ने इस विजय को घोषित करने के लिए जिन परिस्थितियों का निर्माण किया है उनमें भी वास्तविकता और सत्यता है। नरोत्तमदास परिस्थिति-निर्माण की कला में पटु हैं। अपने भावों के अनुकूल वह परिस्थिति-निर्माण करना खूब जानते हैं। द्वारका में जिन परिस्थितियों के बीच सुदामा ने कृष्ण से भेंट की है उनसे कथावस्तु को पर्याप्त बल और भावों को पर्याप्त उत्कर्ष मिला है।

सुदामा-चरित में नरोत्तमदास की प्रतिभा के परिचायक तीन स्थल हैं। पहला स्थल तो वह है जब श्रीकृष्ण पहले-पहल सुदामा से मिलते हैं उस समय कवि ने थोड़े-से शब्दों में जिन उदात्त भावों का चित्रण किया है उनसे उनकी प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है, कृष्ण की वर्णाश्रम-धर्म-भावना और सखा-भाव पर भी उज्ज्वल प्रकाश पड़ जाता है। 'पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोये' में कवि की कल्पना-शक्ति का चमत्कार तो है ही, कृष्ण के चरित्र और उनके मित्रता के आदर्श को उज्ज्वलतम् रूप देने का सफल प्रयास भी है। प्रतिभा दिखाने का दूसरा स्थल वह है जब कृष्ण सुदामा की काँख से चावल की पोटरी निकालते हैं और उनको पुरानी बातों की याद दिलाकर हास-परिहास करते हैं। इस अवसर पर वह अपने सखा की पोटली ही नहीं, उनके मन की गाँठ भी खोल देते हैं। 'पाछिली बान अजौं न तजी तुम, तैसेई भाभी के तन्दुल कीने' में जहाँ हास-परिहास और किंचित व्यंग है वहाँ सुदामा का संकोच मिटाने का प्रयास भी है। प्रतिभा की प्रखरता दिखाने का तीसरा अवसर वह है जब कृष्ण सुदामा को प्रत्यक्ष रूप से कुछ न देकर विदा कर देते हैं। मार्ग में सुदामा की कृष्ण पर, अपनी पत्नी पर तथा अपने पर जो झुँझलाहट और खीज है उसका वर्णन भी बड़ा ही स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है।

[४] सुदामा-चरित में चरित्र-चित्रण—सुदामा-चरित में तीन चरित्रों की प्रधानता है। पहले सुदामा को लीजिए। सुदामा ज्ञानी, नीतिज्ञ संकोची, भाग्यवादी, वर्णाश्रम धर्म के पोषक, स्वाभिमानी, संतोषी, शीलवान और दरिद्रनारायण से प्रीति करनेवाले ब्राह्मण हैं। इन गुणों के होते हुए भी वह अपनी स्त्री के आग्रह के सामने निरुत्तर हो जाते हैं। उन्हें कृष्ण के पास विवश होकर जाना ही पड़ता है। वह व्यवहार-कुशल भी नहीं हैं। वह सीधे-साधे सरल ब्राह्मण हैं। उनमें बनावट नहीं है। ज्ञानी होते हुए भी मानव-हृदय की दुर्बलताएँ उनमें हैं। द्वारका से खाली हाथ लौटते समय उनके हृदय की दुर्बलता निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

हौं कब आवत हुतो, वाही पठ्यो ठेलि।
कहिहौं धनि सो जाइ कै, अब धन धरौ सकेलि॥

सुदामा के इन शब्दों में स्वाभाविक खीज है, चिड़चिड़ापन है, विवशता का संक्षिप्त परिचय है, जीवन के प्रति निराशा का भाव है और भाग्यवाद के प्रति आस्था है। वह अपनी दृष्टि में ही गिरे हुए से जान पड़ते हैं; पर घर पहुँचते ही उनकी सारी निराशा, मन की सारी खीज आश्चर्य और हर्ष में परिणत हो जाती है और अन्त में अपने भाग्यवाद के स्थान पर वह 'प्रभु के परताप' को स्वीकार करते हैं।

सुदामा-चरित में दूसरा आकर्षक चरित्र है सुदामा की स्त्री का। सुदामा को अपनी परिस्थितियों के प्रति जितना ही सन्तोष है उतना ही उनकी स्त्री को असन्तोष है। इसलिए वह बराबर अपने पति को कृष्ण के पास जाने के लिए प्रेरित किया करती हैं। एक बात और है। सुदामा जहाँ भाग्यवादी हैं वहाँ उनकी पत्नी भगवान् की दानशीलता में विश्वास करनेवाली है। उन्हें अच्छी तरह विश्वास है कि सुदामा के उनके पास पहुँचते ही उनकी दरिद्रता का अन्त हो जायगा। सुदामा की अपेक्षा वह व्यवहार-कुशला भी हैं। सुदामा को मित्रता के आदर्श

तथा सम्मान की भावना का विचार है, पर उनकी पत्नी इन आदर्शों को नहीं मानतीं। वह कृष्ण को अपने पति के मित्र के रूप में ही नहीं अपितु भक्तवत्सल भगवान के रूप में भी देखती हैं। सुदामा में जो संकोच और हिचकिचाहट है वह उनके आदर्शों के कारण, और सुदामा की पत्नी में जो व्यवहारिकता है वह श्रीकृष्ण की अनुकम्पा में विश्वास के कारण। सुदामा जितने ज्ञानी हैं, उनकी पत्नी उतनी ही भावुक है। इसलिए सुदामा का सारा तर्क, सारी आदर्शवादिता उनकी पत्नी की भावुकता और भक्ति के सामने टिक नहीं पाती। सुदामा की पत्नी के आग्रह में बल है, नारी-हृदय की कोमल कामना है, समृद्धिशालिनी बनने की उत्कट अभिलाषा है और इसका स्वप्न वह देखती हैं कृष्ण की अनुकम्पा में विश्वास करके। इसलिए आदि की भाँति अन्त में भी उन्हीं की विजय होती है।

सुदामा-चरित में तीसरा चरित्र है कृष्ण का। नरोत्तमदास के कृष्ण वह कृष्ण नहीं है जो सूर के हैं। वह द्वारकाधीश हैं, वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखनेवाले हैं, नीतिज्ञ हैं, उदार हैं, दरिद्रनारायण के सेवक हैं, सच्चे मित्र और भक्तों की मर्य्यादा का ध्यान रखनेवाले हैं। सुदामा से मिलने पर वह अपने पद का गर्व न करके वर्णाश्रम धर्म की मर्य्यादा के अनुकूल उनके पैर धोते हैं, उच्चासन देते हैं और उनका मनोरंजन करते हैं। चलते समय वह उन्हें पहुँचाने भी जाते हैं। प्रत्यक्ष रूप से दान-दक्षिणा न देकर अप्रत्यक्ष रूप से वह सब कुछ दे देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से कुछ न देने के दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि यदि वह प्रत्यक्ष रूप से देते भी तो उतना नहीं दे सकते थे जितना कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें दिया और दूसरे यह कि वह अपनी प्रेरणा से कृष्ण के पास नहीं गये थे। वह ब्रह्मज्ञानी थे। इसलिए कृष्ण को वह द्वारकाधीश के रूप में ही देखते थे। पर उनकी पत्नी कृष्ण के विष्णुत्व में विश्वास करनेवाली थीं। इसीलिए सुदामा की अपेक्षा उनकी पत्नी ही कृष्ण की कृपा की पात्री हो सकती

थीं। भगवान् तो अपने भक्तों के ही वश में रहते हैं। ऐसी दशा में पहले सुदामा की पत्नी की ही मनोकामना पूर्ण करना उचित था।। इस प्रकार कृष्ण ने भक्तों की मर्य्यादा और उनके विश्वास की रक्षा की। सुदामा-चरित में कृष्ण के दोनों रूप बड़ी ही सुन्दरता से अंकित हुए हैं।

[२] सुदामा-चरित में मित्रता का आदर्श—सुदामा-चरित में प्रधानतः मित्रता का आदर्श ही स्थापित किया गया है। सुदामा नीतिज्ञ हैं, अतः वह विचारक भी हैं। कृष्ण के पास जाने से पहले वह मन में तर्कवितर्क करते हैं। वह सोचते हैं कि मित्र को मित्र से याचना नहीं करनी चाहिए और संकट पड़ने पर उसके पास नहीं जाना चाहिए। यही सोचकर वह जाने से हिचकिचाते हैं, पर जब पत्नी के आग्रह के कारण उन्हें कृष्ण के पास जाना ही पड़ता है तब कृष्ण उनका जिस प्रकार सम्मान करते हैं उससे मित्रता का आदर्श स्थापित हो जाता है। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मित्र के यहाँ जाने पर उसको कुछ भेंट स्वरूप भी देना चाहिए, एक मित्र को दूसरे मित्र से याचना नहीं करनी चाहिए, एक मित्र को दूसरे मित्र के प्रति पूरी सहानुभूति रखनी चाहिए, भेद-भाव भूलकर अपने मित्र का यथोचित सम्मान करना चाहिए, संकट में पड़े हुए मित्र के साथ किये गये उपकार का प्रदर्शन न करना चाहिए और मित्रों के बीच समान भाव की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। मित्रता के इन आदर्शों की रक्षा सुदामा-चरित में भली भाँति हुई है। सुदामा कृष्ण से किसी प्रकार की याचना नहीं करते कृष्ण समस्त भेद-भाव भूलकर अपने निर्धन मित्र सुदामा का यथोचित सम्मान करते हैं। उन्हें सब कुछ देते हैं, पर उन्हें कृतज्ञता प्रकाश का अवसर तक नहीं देते। वस्तुतः ऐसी ही मित्रता जीवन के लिए कल्याणकारी होती है।

सुदामा-चरित की भाषा ब्रजभाषा है, पर उस पर बैसवाड़े की बोली की भी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। शब्दों को तोड़ मरोड़कर कुछ

नए शब्द भी बनाये गये हैं। मित्रता से 'मित्रई' शब्द तोड़मरोड़कर ही बनाया गया हैं। पर इस प्रकार की स्वतंत्रता से काम लेने पर भी उनकी भाषा प्रवाहमय है और उसपर उनका पूरा अधिकार है। उनका शब्द-चयन स्वाभाविक, सरल और प्रसाद गुणयुक्त है। स्थान-स्थान पर उन्होंने प्रचलित मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा में सरलता और रोचकता आ गई है। कहीं-कहीं भाषा शिथिल सी हो गई है, पर वहाँ भी भावों का प्रवाह इतना अधिक है कि भाषा की शिथिलता का आभास नहीं होता।

नरोत्तम की भाषा और शैली

सुदामा-चरित में नाट्य-शैली का अनुसरण किया गया है। इससे भावों की अभिव्यक्ति में स्वभाविकता और सरसता आ गई है। उसे पढ़ते समय प्रतीत होता है कि सुदामा आदि के भावों को कविता के साँचे में ढालनेवाला कोई मध्यस्थ कवि नहीं है, प्रत्युत वे स्वयं ही साक्षात् रूप से परस्पर कथोपकथन कर रहे हैं। यही कविता की विशेषता भी है। इसलिए उनकी शैली में भावुकता, मौलिकता, स्वाभाविकता, सरलता और रसात्मकता का एक ही साथ सन्निवेश हो गया है। ऐसी दशा में हमें उसमें अलंकारों का विशेष रूप से विधान नहीं मिलता। पर यत्र-तत्र उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि पाये जाते हैं। छन्द-विधान अवश्य विषयानुकूल है। दोहा, कवित्त, सवैया और कुण्डलियाँ—ये चार छन्द ही उसमें प्रयुक्त किये गये हैं। रसों में शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है।

इस प्रकार सुदामा-चरित एक छोटा-सा खंड-काव्य होते हुए भी नरोत्तमदास की प्रतिभा का चिरस्थायी प्रतीक है और हिन्दी साहित्य में उसका एक विशिष्ट स्थान है।

—४—

मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म सं० १५५७ मृत्यु सं० १६००

मलिक मुहम्मद जायसी अवध के रहनेवाले थे। उनका जन्म रायबरेली जिले के जायस नामक ग्राम में सं० १५५७ में हुआ था। जायस में रहने के कारण वह जायसी कहलाने लगे। मलिक उनकी पैतृक उपाधि थी उनके पिता खेती-बारी करते थे। कहा जाता है कि ७ वर्ष की अवस्था में शीतला के प्रकोप से जायसी की बाईं आँख जाती रही थी और एक कान भी बहरा हो गया था। उनके चेहरे पर शीतला के चिह्न भी अंकित हो गये थे। इससे वह कुरूप हो गये थे। अपनी पुस्तक में उन्होंने अपनी कुरूपता का वर्णन बड़े ही गर्व से किया है और शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है।

जीवन-परिचय

जायसी के माता-पिता उनकी बाल्यावस्था में ही मर गये थे। इसलिए अनाथ होकर वह साधु-सन्तों के साथ रहने लगे। उनकी शिक्षा कब और किस प्रकार हुई, यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें हिन्दी-काव्य-कला तथा हिन्दू-धर्म के मौलिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान था। साधु-सन्तों तथा फकीरों के संसर्ग में आने के कारण उनमें अधिक धार्मिकता आ गई थी। हठयोग, वेदान्त, रसायन ज्योतिष आदि की बहुत-सी बातें उन्होंने हिन्दू-साधु-सन्तों के सत्संग से ही सीखी थीं। कुरान में उनका अविचल विश्वास था, परन्तु अन्य धर्मों की ओर वह आदर की दृष्टि से देखते थे। सूफी मत की ओर उनका विशेष झुकाव था। शेख मुहीउद्दीन उनके गुरु थे।

पद्मावत के आरम्भ में जायसी ने अपने चार मित्रों का

उल्लेख किया है इनमें से यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ (सलोने सिंह) गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव के आश्रित थे। महाराज जगतदेव शेरशाह के मित्र थे। उनके यहाँ गंधर्वराज नाम का एक बड़ा गुणी कत्थक था। मलिक मुहम्मद जायसी का उससे बहुत स्नेह था। जनश्रुति है कि जायसी ने गंधर्वराज को यह आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारे कुल में संगीतविद्या सदा बनी रहेगी, पर तुम हमारे स्नेह के स्मारक में मलिक की पदवी अपने कुल में चला दो। तब से गंधर्वराज के वंशज, जो अब तक बलिया के रायपुरा और हल्दी तअल्लुका में बसे हुए हैं, मलिक कहलाते हैं और अच्छे गायक भी हैं।

जायसी अपने समय के बड़े सिद्ध पुरुष थे। उन्हें लोग पहुँचा हुआ पीर मानते थे। उनके बहुत से शिष्य थे। परम्परा से प्रसिद्ध है कि उनका एक शिष्य अवध के असेठी राज्य में जाकर उनका 'नागमती का बारहमासा' गाकर घर-घर भीख माँगा करता था। एक दिन असेठी-नरेश ने उसे बुलाकर वह बारहमासा सुना और उससे उसके रचयिता का नाम पूछा। शिष्य ने जायसी का नाम बता दिया। जायसी का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मान-पूर्वक उन्हें अपने यहाँ बुलाया। तब से मलिक मुहम्मद जायसी असेठी में रहने लगे। कहते हैं कि असेठी के राजा के कोई सन्तान नहीं थी। जायसी के आशीर्वाद से उनका वंश चला। इस घटना से असेठी-दरबार में उनका मान और भी बढ़ गया।

जायसी अपने अन्तिम दिनों में असेठी के सँगरा वन में रहते थे। यह वन रामनगर के उत्तर की ओर एक फर्लांग पर है। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने असेठी के राजा से कहा कि मैं योग के बल से अन्य पशुओं के रूप धारण कर लिया करता हूँ। राजा ने उनकी बात का विश्वास करके सँगरा वन के आस-पास शिकार की मनाही कर दी। दैवयोग से एक दिन एक शिकारी कहीं से शिकार

खेलता हुआ उस वन में आ पहुँचा। उसे उस वन में एक बाघ की गरज सुनाई दी। उसने आवाज़ सुनते ही आत्म-रक्षा के लिए गोली चला दी और पास जाकर देखा तो बाघ के स्थान पर जायसी का मृतक शरीर मिला। असेठी के राजा ने वहीं उनकी समाधि बनवा दी जो अब तक वर्तमान है। इस समाधि पर अब तक दीपक जलाया जाता है। इस जनश्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु सं० १६०० के लगभग मानी जाती है।

जायसी की रचनाएँ

जायसी २१ ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं, परन्तु अब तक उनकी केवल तीन कृतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं—१. पद्मावत, २. अखरावट और ३. आखिरी कलाम। पद्मावत महाकाव्य है। यद्यपि इसकी रचना प्रबन्ध-काव्यों की सर्ग-बद्ध पद्धति के अनुसार न होकर फारसी की मसनवी-शैली के अनुसार की गई है, तथापि रसों के वर्णन में लेखक ने भारतीय काव्य-रचना का ही अनुसरण किया है। कथा का आधार है चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी या पद्मावती जिसके रूप और सौन्दर्य पर मोहित होकर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी। अखरावट में दो प्रकार के पद्य हैं। एक तो वे पद्य हैं जो अक्षरों के क्रम के अनुसार रचे गये हैं, दूसरे वे पद्य हैं जिनका कोई सम्बन्ध अक्षरों के क्रम से नहीं है। इन पदों में गुरु-चेला सम्वाद की प्रधानता है। आखिरी कलाम की शैली पद्मावत से अधिक प्रौढ़ है। इसमें कवि ने पहले तो ईश्वर की स्तुति की है और इसके बाद आत्म-परिचय देते हुए कहा है कि मेरे जन्म के समय भूकम्प आया था और सूर्यग्रहण पड़ा था। कवि ने इस प्रकार अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डालते हुए मुहम्मद साहब और अपने गुरु की स्तुति की है और फिर प्रलय का दृश्य चित्रित किया है।

जायसी उच्च कोटि के सूफी साधक थे। उनका हृदय कोमल

और प्रेम की पीर से भरा हुआ था। क्या लोक-पक्ष में और क्या भगवत्पक्ष में दोनों ओर उनकी समदृष्टि थी।

जायसी की धार्मिक भावना

मुसलमान-फकीरों की एक प्रसिद्ध गद्दी की शिष्य-परम्परा में होते हुए भी तत्त्व-दृष्टि-सम्पन्न होने के कारण उनके भाव अत्यन्त उदार थे। विधि पर उनकी पूरी आस्था थी। वेद, पुराण और कुरान आदि उनकी दृष्टि में लोक-कल्याण-मार्ग प्रतिपादित करनेवाले वचन थे। वेद-विहित मार्ग पर चलनेवालों की उन्होंने भर्त्सना की है।

जायसी मुसलमान थे, पर उनमें हिंसा की भावना नहीं थी। धर्म की उदात्त वृत्तियों से उनका हृदय इतना कोमल हो गया था कि उनमें हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था। इसलिए उन्होंने अपनी साधु-प्रवृत्ति के अनुसार पशु-हिंसा के विरुद्ध अपना विचार प्रकट किया है। साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनों के तत्त्व को वह समझते थे। उनकी साधना में समस्त धर्मों को समान स्थान प्राप्त था, इसलिए अपनी साधना को सफल बनाने के लिए उन्होंने सब धर्मों से कुछ-न-कुछ अवश्य लिया और उस पर अपनी साधना की, अपने प्रेम की छाप अंकित कर दी। विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा, मुल्लाओं और पंडितों का उपहास आदि से वह कोसों दूर थे। गुरु के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी। साधना के क्षेत्र में वह गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते थे। उपासना के क्षेत्र में जायसी भगवान् के निर्गुण रूप के उपासक थे, पर सूफी-सिद्धान्तों की ओर झुकाव होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की-सी सहृदयता भी पाई जाती है। जायसी परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त गुणों का सागर मानते थे। वह एकेश्वरवादी थे, पर उन पर अद्वैतवाद, वेदान्त, योग आदि का भी प्रभाव था। इसका कारण था भक्तिवाद। हिन्दुओं का भक्तिवाद सूफी-साधना के सर्वथा अनुकूल था।

जायसी की भाव-धारा के सम्बन्ध में अब तक जो विवेचना की

गई है उससे उनकी काव्य-साधना पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है।

जायसी की काव्य-साधना

उससे यह ज्ञात हो जाता है कि वह पहुँचे हुए साधक और उच्च कोटि के कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में भक्ति-काल की प्रेममार्गी शाखा की मनोवृत्तियों तथा अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व किया है और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। भावुकता उनके रोम-रोम में भरी हुई है। पद्मावत की एक-एक पंक्ति उनकी भावुकता की साक्षी देती है। जायसी सूफ़ी कवि थे। उनका हृदय मानव-प्रेम की पूत भावनाओं से भरा हुआ था, इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम का निरूपण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वह वास्तव में उच्च कोटि के 'प्रेम की पीर' के कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही ने उनके काव्य को जन्म दिया है और उन्हें सफल कवि बनाया है। नागमती के विरह-वर्णन में उनके 'प्रेम की पीर' का जो आभास पाठक को मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें इतनी तन्मयता, इतनी तीव्रता और इतना प्रवाह है कि पाठक का हृदय उस विरहिणी के स्वर में अपना स्वर मिला देता है। पाठक ही क्यों सारी प्रकृति संवेदनशील हो उठती है। इस प्रकार मानवीय भावों तथा अवस्थाओं का सृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापित करके जायसी ने अपने उत्कृष्ट काव्य-कला का परिचय दिया है। नागमती का विरह-वर्णन वेदना से भरे हुई हृदय का अति-द्रावक चित्र है। प्रकृति की संवेदनशीलता और सहानुभूति उनके बारहमासा-वर्णन तथा नख-शिख-वर्णन में भी वर्तमान है। इस दृष्टि से जायसी छायावाद के बहुत निकट पहुँच गये हैं।

भाव-चित्रण के अतिरिक्त दृष्टि-चित्रण भी जायसी का बड़ा ही सफल हुआ है। उन्होंने दृश्य-चित्रण के साथ-साथ तत्सम्बन्धी भावों को भी अपने वर्णन में स्थान दिया है। जिन दृश्यों का माधुर्य भारतीय हृदय पर चिरकाल से अंकित है उनका समावेश भी उन्होंने अपनी रचना में किया है। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण मानव की

तथा आध्यात्मिक कथा को अभिनव चित्रों से सजाया। उनकी रचनाओं में शब्दों की सादगी और भावों का भोलापन देखते ही बनता है। वह उच्च कोटि के प्रेमी, साधक और कवि हैं। प्रेम की पीर को मानव-हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। अवधी को अपनाकर उन्होंने उसे प्रबन्ध-काव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध कर दिया है। उनकी दोहा-चौपाई की पद्धति सहजयानी सिद्धों की पद्धति का अनुकरण करने पर भी अपनी नवीनता और आकर्षण लिये हुए है। जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में बोलते हुए मालूम देते हैं। सूफी रहस्यवादी काव्य में प्रेम की पीर का महत्व है, जायसी उससे भली-भाँति परिचित हैं। उन्हें इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र, हठयोग आदि का सम्यक् ज्ञान है और वह हिन्दू-रीतिरिवाजों से प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में समता है। वह किसी धर्म का खण्डन-मण्डन नहीं करते। उदार प्रवृत्ति उनके हृदय की कोमलता, उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग और अपने समय का सफल कवि घोषित करने में सफल हैं। जायसी को हम अपना कवि समझते हैं और उन्हें तुलसी और सूर की भाँति हिन्दी साहित्य में ऊँचा स्थान देते हैं।

—५—

मीराँबाई

जन्म सं० १५६० मृत्यु सं० १६३०

प्रेम की अनन्य पुजारिन मीराँबाई का जन्म सम्वत् १५६० के आस-पास हुआ था। वह जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधाजी के पुत्र दूदाजी की पौत्री तथा रत्नसिंह की एकलौती पुत्री थीं।

जीवन-परिचय

राव दूदाजी को अपने पिता की ओर से मेड़ता नाम का प्रान्त जागीर-स्वरूप मिला था। इसलिए उन्होंने यहीं अपनी राजधानी बनाई। आगे चलकर उनके वंशज मेड़ता में

रहने के कारण मेड़तिया-राठौर कहलाने लगे। रत्नसिंह उनके चतुर्थ पुत्र थे। उन्हें भी अपने पिता से निर्वाह के लिए बारह गाँव मिले थे। कुड़की इन्हीं में से एक गाँव था। यही गाँव मीराँ की जन्म-भूमि थी। उनकी बाल्यावस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया था, इसलिए उनका पालन-पोषण मेड़ते में पितामह राव दूदाजी की गोद में हुआ। राव दूदाजी परम वैष्णव तथा चतुर्भुज के अनन्य भक्त थे। उनके सम्पर्क में रहने के कारण मीराँ के बाल-हृदय पर उनकी भक्ति-भावना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव की ओर उन्होंने अपने पदों में 'बाल सनेही' और 'बालपने की प्रीति' का उल्लेख करके संकेत किया है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें बचपन में ही श्री गिरधरलाल का इष्ट हो गया था और वह उसी समय से उनके प्रेम में मतवाली रहा करती थीं।

सन् १५१५ ई० में मीराँ के पितामह राव दूदाजी का देहान्त हो गया और उनके स्थान पर रत्नसिंह के बड़े भाई वीरमदेव गद्दी पर बैठे। उन्होंने लगभग १५१६ ई० में मीराँ का विवाह राणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ कर दिया। पर अभी एक वर्ष भी व्यतीत न हुआ था कि उनके पति का देहान्त हो गया। इस वज्रपात के बाद कनवाह के रण-क्षेत्र में बाबर से युद्ध करते हुए उनके पिता को भी वीरगति प्राप्त हुई और श्वसुर राणा साँगा भी स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार मीराँ थोड़े ही समय में आश्रयहीन हो गयीं। ऐसी दयनीय परिस्थिति में उनमें वैराग्य की प्रबल भावना उत्पन्न हो गयी। वह अपना सारा समय साधु-सत्संग तथा भगवद्भजन में व्यतीत करने लगीं। गिरधरलाल का इष्ट उन्हें बाल्यावस्था से ही था, इसलिए लोक-लज्जा त्यागकर वह उन्हीं के प्रेम में उन्मत्त हो गयीं। प्रेमावेश में आकर कभी-कभी वह अपने पैरों में घुँघरू बाँधकर तथा हाथों में करताल लेकर अपने प्रभु के आगे नाचा करती थीं। राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध उनका ऐसा आचरण देखकर उनके देवर महाराणा

रत्नसिंह ने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया, पर उन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। धीरे-धीरे उनकी हरि-भक्ति के साथ-साथ उनकी ख्याति भी बढ़ती गई। यह देखकर राणा शान्त हो गए, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् जब उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा हुए तब उन्होंने पहले तो मीराँ की ननद ऊदाबाई को भेजकर मीराँ को समझाया-बुझाया। इसके बाद कुपित होकर उनके पास विष का प्याला भेजा। इस प्याले के विष को मीराँ ने चरणामृत समझकर पान कर लिया। इससे जब उनकी मृत्यु नहीं हुई तब राणा ने एक पिटारे में विषैला सर्प बंद करके भेजा। मीराँ ने इस सर्प को अपने गले में डाल लिया। वह सर्प उनके गले में पड़ते ही हार बन गया। इसके बाद राणा ने उनके लिए सूली की सेज भेजी। वह उस पर ऐसे सो गयीं मानो वह फूलों की सेज हो। इन किंवदन्तियों में कहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य है, निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। मीराँ ने अपने पदों में इन घटनाओं की ओर संकेत अवश्य किया है और इनसे यह प्रतीत होता है कि वह अपने स्वजनों के अत्याचारों को सहन करती रहीं, पर अपने पथ से विचलित नहीं हुईं।

मीराँ के सम्बन्ध में और भी कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि वह रैदास भक्त की शिष्या थीं और तुलसीदास से भी उनका पत्र-व्यवहार हुआ था। पर रैदास और तुलसीदास के समय से मीराँ के समय की तुलना करने पर यह बातें भ्रमपूर्ण सिद्ध होती हैं। अतः मीराँ के जिन पदों में इन घटनाओं की ओर संकेत है वे प्रक्षिप्त ही कहे जा सकते हैं। कुछ पदों से यह बात अवश्य प्रकट होती है कि उनके कष्टों की कथा सुनकर उनके पितृव्य काका वीरमदेव ने उन्हें मेड़ता बुला लिया। वहाँ वह निर्विघ्न, रूप से भजन-पूजन में मग्न रहने लगीं, पर वह अधिक समय तक वहाँ भी न रह सकीं। सन् १५३८ ई० में जोधपुर के राव मालदेव ने जब वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया, तब उन्होंने तीर्थ-यात्रा करने का विचार किया।

पहले वह वृन्दावन गयीं। वहाँ उन्होंने चैतन्य सम्प्रदाय के श्रीजीव गोस्वामी से भेंट की। इसके बाद वह वहाँ से द्वारका चली गयीं। द्वारका पहुँचने पर उन्हें मेवाड़ के तत्कालीन राणा का ब्राह्मणों द्वारा लौट आने का निमंत्रण मिला। ब्राह्मणों ने उनसे लौट चलने के लिए अधिक आग्रह किया। मीराँ ने उनका आग्रह देखकर राणा का निमंत्रण स्वीकार कर लिया, पर कहते हैं कि जब वह रणछोड़जी से आज्ञा लेने के लिए मन्दिर में गयीं तब वह वहीं उनकी मूर्ति में समा गयीं। उस समय के उनके दो पद 'हरि तुम हरो जन की पीर' और 'साजन सुध ज्यों जाने त्यों लीजे हो' प्रसिद्ध हैं। यह घटना लगभग सम्वत् १६३० की बताई जाती है।

मीराँ कृष्ण की अनन्य उपासिका थीं। उन्होंने उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना के आवेश में जो स्वरचित पद गाये उन्हीं का संकलन पुस्तक रूप में हम देखते हैं। उनके पदों की कोई प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिपि अब तक प्राप्त नहीं हुई है। ऐसी सामग्री के अभाव में साधु-सन्तों की मंडली में प्रचलित पद लिपिबद्ध कर लिये गये। इस समय उनके पद गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी में मिलते हैं। ऐसी दशा में यदि कुछ साधु-सन्तों ने उनके नाम से कुछ पद बनाकर उनके पदों में सम्मिलित कर दिये हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने मीराँ की एक कविता-पुस्तक 'राग गोविन्द' और मिश्रबन्धुओं ने 'राग सोरठ पद-संग्रह' का उल्लेख किया है, पर इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। इस समय तक प्राप्य पद ही उनकी रचनाएँ समझी जाती हैं।

मीराँ की रचनाएँ

मीराँबाई हिन्दी की भक्त-कवियित्री थीं। उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब दिल्ली में लोदी वंश के अनन्तर बाबर ने अपने राज्य की स्थापना की थी। उस समय तक राजस्थान पर

मुसलमानों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा था, पर उनके आगमन से भारत की विचार-धारा अवश्य प्रभावित हो गयी थी। पंजाब में गुरु नानकदेव, बंगाल में श्री चैतन्य देव, व्रजमंडल में महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा सूफी परम्पराओं के हिन्दी कवियों ने अपनी वाणी और रचनाओं से हिन्दी साहित्य पर अधिक प्रभाव डाला था। अतः उस समय ज्ञान, प्रेम और भक्ति सम्बन्धी तीन मुख्य धाराएँ हिन्दी-साहित्य में चल रही थीं। इन तीनों विचारधाराओं का मीराँबाई पर भी न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा, किन्तु उनके लिए उनके जीवन की घटनाएँ भी कम महत्व-पूर्ण सिद्ध नहीं हुईं। उत्तरी भारत के वातावरण ने राजस्थान को प्रभावित किया और प्रान्त की परिस्थितियों एवम् दैनिक जीवन के परिवर्तनों ने मीराँ के व्यक्तित्व को संघटित किया और उन्हें पद-रचना की प्रेरणा प्रदान की। अतः हमें उनकी काव्य-साधना का स्वरूप इन्हीं प्रभावों के अन्तर्गत देखना होगा।

मीराँ की काव्य-साधना

१. मीराँ की भक्ति का स्वरूप—मीराँ की भक्ति-भावना में दो धाराओं का सन्निवेश है। इनमें से एक का रूप विषादमय है और दूसरी का रूप अनुरागमय है। विषादमय रूप का कारण है उनके जीवन की संकटापन्न परिस्थिति और अनुरागमय रूप का कारण है बाल्यकाल से ही गिरधरलाल से उनकी आस्था। इसी आस्था ने उन्हें जीवन की कटु परिस्थितियों को सहन करने की शक्ति दी है। इसीलिए हमें उनके सिद्धान्त जगत के प्रति विरक्तिमय और श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्तिमय दीख पड़ते हैं और इन दोनों प्रकार की भावनाओं के प्रभाव उनकी रचनाओं पर लक्षित होते हैं। उनके विचारानुसार यह संसार अनित्य है और दैनिक व्यवहारों के बीच 'हरि अविनासी' का ही स्मरण करना चाहिए। वह निराकार भी है और साकार भी। मीराँ ने अपने कई पदों में अपने इष्टदेव को दोनों रूपों में प्रतिष्ठित किया है। इससे यह जान पड़ता है कि उन्होंने अपनी साधना के प्रारंभ में निर्गुण सन्तों के

प्रभाव से हठयोग द्वारा ब्रह्मानुभूति का प्रयास किया था और कबीर आदि सन्तों की भांति 'अगम के देस' चलने की इच्छा प्रकट की थी, पर आगे चलकर साधना का यह कठोर मार्ग उनके स्वभाव के अनुकूल न हो सका। अतः उन्होंने 'माधुर्य भाव' से अपने इष्टदेव की उपासना की। इस उपासना-पद्धति के अनुसार उन्होंने पत्नी के रूप में अपने पति 'हरि अविनासी' की आराधना की। साधना की इस ऊँची श्रेणी पर पहुँचकर उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं रही। कृष्ण के रस में वह अपने आपको 'गोकुल अहीरणी' समझती थीं और भक्त उन्हें, इसी कारण से, ललिता नाम की गोपिका का अवतार मानते थे। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि में उनके इष्टदेव के निर्गुण और सगुण रूपों में कोई भेद नहीं था। इन दोनों रूपों के सामञ्जस्य में ही उनकी भक्ति का विकास हुआ है।

२. मीरां के पदों का विषय—मीराँ ने अपनी भक्ति-भावना को पदों में व्यक्त किया है। उनकी सारी कविता गेय है। उसमें प्रारम्भ में एक टेक रखकर तीन-चार चरण जोड़ दिये हैं। इस प्रकार संपूर्ण पद किसी राग-रागनी के अन्तर्गत आ जाते हैं। मुक्त पदों में गीति-रचना की यह परंपरा संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव से आरंभ होती है। मैथिलि में विद्यापति तथा गुजराती में नरसी मेहता ने भी इसी परंपरा का अनुसरण किया है। हिन्दी में मीराँ गीति-काव्य की जन्मदात्री मानी जाती हैं। ऐसे काव्य में व्यक्तिगत निर्देश अथवा आत्मनिवेदन की प्रधानता होती है। मीराँ के सभी पदों के आलम्बन गिरधरलाल हैं, पर सूर के कृष्ण की भाँति बालकृष्ण नहीं, वरन् प्रौढ़ कृष्ण हैं, मीराँ के पति हैं। इसलिए समस्त पद माधुर्य भाव से ओत-प्रोत हैं। अब तक उनके जितने पद प्रकाशित हुए हैं उन्हें हम विषय के अनुसार पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. विनय और प्रार्थना के पद, २. विरह और प्रेम के पद, ३. संत वातावरण से प्रभावित पद, ४. रहस्यवादी पद और ५. जीवन पर प्रकाश डालनेवाले

पद। इन पदों से मीराँ की काव्य-साधना का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। जीवन पर प्रकाश डालनेवाले पदों में से अधिकांश पद राणा विक्रमादित्य को सम्बोधित करके लिखे गये हैं। विनय और प्रार्थना के पदों में मीराँ की सम्पूर्ण तन्मयता भक्ति के रूप में विकसित हुई है। संत-वातावरण से प्रभावित पदों में काव्य नहीं है, पर इनसे मीराँ की विचार-धारा का निरूपण करने में अवश्य सहायता मिलती है। काव्य की दृष्टि से मीराँ के विरह और प्रेम वर्णन सम्बन्धी पद अत्यन्त उत्कृष्ट, संयत, शिष्ट और प्रभावपूर्ण हैं। उन्होंने अपने 'प्रियतम' के वियोग में अपने हृदय की जिस व्याकुलता का चित्रण किया है उसमें स्वाभाविकता और गहरी तन्मयता है। ऐसे पद ही उनकी अनुभूति के परिचायक हैं। इन पदों में सूर से भी अधिक हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। आत्मसमर्पण की जितनी प्रबल भावना मीराँ में है उतनी हिन्दी के किसी भक्त-कवि में नहीं पायी जाती। उनके पति-प्रेम के रूप में ढले हुए भक्ति-रस से स्निग्ध-मधुर पद अपनी दिव्यता और माधुर्य में अप्रतिम हैं। उनके संयोग-वर्णन के पद थोड़े हैं। सन्तों के प्रभाव से उन्होंने जो ब्रह्मानुभूति सम्बन्धी पद लिखे हैं उनमें रहस्यवाद की झलक आ गयी है। कहीं-कहीं उनके ऐसे पद कबीर आदि निर्गुण सन्तों की भाँति रूढ़िगत हो गये हैं। 'बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झनकार रे' आदि पदों से उनकी रहस्यानुभूति का जो परिचय मिलता है वह किसी रहस्यवादी भक्त-कवि से कम नहीं है।

३. मीराँ की अलंकार-योजना—मीराँ की कविता भावमयी है। उनके काव्यत्व की प्रचुर मात्रा हमें वस्तुतः रसोद्भावना अथवा हृदयग्राही वर्णनों में ही मिलती है, पर इसके साथ ही यत्र-तत्र अलंकारों का विधान भी स्वभावतः हो गया है। उनके पदों में रूपक के उदाहरण बहुत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति, उदाहरण, विभावना, स्वभावोक्ति अर्थान्तरन्यास, श्लेष,

वीप्सा तथा अनुप्रास अलंकार का विधान भी स्वाभाविक ढंग से हुआ है।

४. मीराँ की रस योजना—मीराँ की रचनाएँ शृंगार रस से ओतप्रोत हैं। उनमें शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का का चित्रण हुआ है। इस सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि उनके सभी पदों के आलम्बन 'गिरधरलाल' हैं, जिन्हें उन्होंने राम, रमैया, हरि, गोविन्द, नन्दनन्दन, कान्हा, साहब, सइयाँ आदि नामों से भी सम्बोधित किया है। उनके पदों में उनका रति-भाव विविध विभावानुभावादि से पुष्ट होकर व्यक्त हुआ है। उनमें व्यभिचारी भावों का चित्रण बहुत कम है, अनुभावों का ही चित्रण अधिक है। वियोग-वर्णन में उनकी तन्मयता देखने योग्य होती है। उस समय उनकी वेदना साकार होकर प्रभु-दर्शन के लिए छटपटा उठती है। संयोग-वर्णन के चित्र कम हैं।

५. मीराँ की छन्द-योजना—मीराँ की छंद-योजना पिंगल के नियमादि के अनुरूप नहीं है। पदावली के अन्तर्गत आये हुए पदों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि उन्हें गेय बनाने के लिए संगीत के स्वर, ताल और लय के अनुसार उनमें यथोचित परिवर्तन भी कर दिया गया है। इसलिए किसी पद में मात्राएँ बढ़ जाती हैं और किसी में कम हो जाती हैं। कहीं-कहीं शब्दों की वृद्धि अथवा कमी भी खटकती है। इन दोषों के होते हुए भी पदावली में कई प्रकार के छन्दों का आयोजन हुआ है। ये छन्द प्रायः मात्रिक हैं।

मीराँ के काव्य की इस संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह उच्च कोटि की साधिका थीं। वस्तुतः कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। पर प्रेमावेश में आकर उन्होंने पत्नी रूप में अपने प्रियतम गिरधर गोपाल के समक्ष अपने अन्तस्तल के स्फीत उद्गारों को जिस माध्यम द्वारा व्यक्त किया उसे हम कविता ही कह सकते हैं। जायसी, सूर और तुलसी भी ऐसी ही परिस्थितियों के कवि थे।

इसलिए मीराँ की कविता, काव्य-कला की कसौटी पर खरी न उतरने पर भी, कविता ही है। उनमें जो तन्मयता है वही उसका आभूषण है। वस्तुतः इसी तन्मयता के कारण उत्तर भारत के घर-घर में मीराँ के पद गाकर लोग अपने जन्म को सफल बनाते हैं। सर्वसाधारण में उनका नाम सूर और तुलसी के बाद ही लिया जाता है। साधुसन्त उन्हीं का गीत गाकर अपनी भक्ति-भावना का परिचय देते हैं। उनकी प्रेमवाणी में अलौकिक बल और पुरुषार्थ का संदेश है और वह हमारे हृदय की सम्वेदना जागृत करने में समर्थ हैं। अन्य कवियों के प्रेम-काव्य में उनका अस्तित्व स्थायी रहता है, किन्तु मीराँ में उसका नितान्त विस्मरण है। उनमें आत्म-विज्ञापन नहीं, आत्मसमर्पण की प्रबल उत्कण्ठा है। इसलिए आज वह प्रेम की कवियित्रियों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वात्मसमर्पण की सीमा का शृंगार करने में सर्वाधिक सफल मानी जाती हैं।

मीराँ की भाषा और शैली

मीराँ के पदों की भाषा एक-सी नहीं है। उनके बहुत से पद राजस्थानी भाषा में हैं। राजस्थान में रहने के कारण उनकी भाषा पर वहाँ की प्रचलित भाषा—डिंगल का पूरा प्रभाव है। इसके अतिरिक्त उनके पदों में ब्रजभाषा का आधिक्य भी पाया जाता है। वास्तव में उनका युग ब्रजभाषा का युग था। एक प्रकार से वही काव्य-भाषा थी। अतः उन्होंने भी इस भाषा का उपयोग किया और सफलता-पूर्वक किया। 'बसो मोरे नैनन में नन्दलाल' आदि पद में उनकी ब्रजभाषा का रूप अपने सम्पूर्ण माधुर्य के साथ वर्तमान है। उनके ऐसे पदों में सूर के पदों की-सी सरसता और प्रवाह है। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें गुजराती, पूर्वी, फारसी तथा पंजाबी भाषाओं के शब्दों का मेल हो गया है। कहीं-कहीं खड़ीबोली की विभक्तियों का भी व्यवहार पाया जाता है। व्याकरण के नियम साधारणतः भाषा के अनुसार ही प्रयोग में लाये गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की दृष्टि से

मीराँ के पद भिन्न-भिन्न भाषाओं से इसी प्रकार प्रभावित हैं जिस प्रकार कबीर के पद। कबीर की भाँति ही मीराँ का जीवन भी साधु-सन्तों के बीच बीता था और उन्होंने मेवाड़ से वृन्दावन तथा द्वारकापुरी की यात्रा की थी। अतः उनकी रचनाओं में उन स्थानों की भाषाओं के भिन्न-भिन्न प्रयोगों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मीराँ की भाषा साहित्यिक भाषा नहीं है। उसमें प्रवाह नहीं, माधुर्य अवश्य है। उसकी शैली सीधी-सादी, सरल और आकर्षक है।

मीराँ और कबीर

अब मीराँ और कबीर पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। साधना के क्षेत्र में कबीर ज्ञानी सन्त और एक विशिष्ट मत के प्रवर्तक हैं। इसलिए वह विभिन्न प्रचलित मतों का खण्डन-मण्डन भी करते हैं। कर्म-काण्ड, भजन-कीर्तन के वह विरोधी हैं। रहस्यानुभूति के क्षेत्र में यद्यपि वह अपने आपको 'राम की बहुरिया' मानते हैं यद्यपि वह अपने 'राम' के सगुण रूप के उपासक नहीं हैं। इसके विपरीत मीराँ ने माधुर्य भाव से अपने इष्टदेव गिरधरलाल की उपासना की है। यद्यपि उनकी उपासना प्रारम्भ में ज्ञानी सन्तों की वाणी से प्रभावित जान पड़ती है तथापि वह भगवान् के सगुण रूप की उपासिका हैं। वास्तव में दोनों के समन्वय में ही उनकी उपासना का विकास हुआ है। उन्होंने न तो किसी विशेष मत का प्रणयन किया और न विभिन्न मतों का खण्डन-मण्डन ही किया है। अतः उनकी वाणी में मिठास, माधुर्य और आकर्षण है। कबीर अपनी वाणी में शुष्क और नीरस हैं। वह उपदेशक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। वह विद्रोही साधक हैं। तत्कालीन सामाजिक वातावरण के विरुद्ध उनमें जो विद्रोह की भावना है उसने उन्हें समाज-सुधारक और धार्मिक नेता के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मीराँ में तन्मयता है; प्रेम का उफान है, हृदय को उद्वेलित और अनुप्राणित करने की शक्ति है। कबीर इस शक्ति से

वञ्चित हैं। उनमें सब कुछ है, प्रेम की तन्मयता नहीं है। मीराँ में प्रेम की तन्मयता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कबीर मस्तिष्क के कवि हैं और मीराँ हृदय की कवियित्री। भाषा के क्षेत्र में दोनों का स्थान समान है। दोनों ने कई भाषाओं तथा बोलियों से प्रभावित खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं—कबीर अपने ज्ञान के कारण और मीराँ अपनी प्रेम-भावना के कारण। हिन्दू जनता में दोनों की लोकप्रियता का भी यही रहस्य है।

समान पद-रचना के आधार पर हम मीराँ की तुलना सूर से भी कर सकते हैं। मीराँ और सूर दोनों कृष्णभक्त थे, दोनों समकालीन भी थे। दोनों ने गेय पदों की रचना भी

मीराँ और सूर

की। पर दोनों की उपासना में अन्तर है। सूर की उपासना सख्यभाव की है और मीराँ की माधुर्य भाव की। सूर ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही चित्रण विशेष रूप से किया है और इस क्षेत्र में वह बेजोड़ हैं। मीराँ ने दाम्पत्य जीवन के विरह और प्रेम का चित्रण किया है। सूर ने ब्रज-सुन्दरियों के विरह और प्रेम की ब्रज-वाणी में माधुर्य-भावपूर्ण रचना की है। इसलिए मीराँ की-सी तन्मयता सूर में नहीं आने पाई है। सूर की गोपियाँ तन्मयता में, आत्मसमर्पण में, त्याग में मीराँ के समकक्ष नहीं बैठ सकतीं। गोपिकाएँ कृष्ण की परकीया प्रेमिकाएँ हैं और मीराँ अपने आपको कृष्ण की पत्नी मानती हैं। एक पत्नी अपने पति के लिए जितना आत्मसमर्पण कर सकती है, मीराँ उसकी आदर्श हैं। इसीलिए उन्होंने अपने कृष्ण को दोनों रूपों में अपनाया है। गोपियों की भाँति तर्क की तुला पर उन्होंने एक रूप को अत्यधिक महत्त्व देना और दूसरे रूप का तिरस्कार करना उचित नहीं समझा। मीराँ की यह विशेषता उन्हें गोपियों से आगे बढ़ा देती है। इस प्रकार यदि सूर बालकृष्ण की लीलाओं के चित्रण में बेजोड़ हैं तो मीराँ अपने

माधुर्य-भाव के चित्रण में। सूर जिस माधुर्य भाव का गोपियों के माध्यम द्वारा चित्रण करने में सफल हुए हैं, मीराँ उसकी स्वयं माध्यम हैं। इसलिए सूर इस क्षेत्र में मीराँ की समता नहीं कर सकते। मीराँ का रूप-वर्णन भी सूर के रूप-वर्णन से उत्कृष्ट, आकर्षक और मोहक है। बात यह है कि रूपासक्ति से ही मीराँ का प्रेम आरम्भ हुआ था। इसलिए वह कृष्ण के रूप पर ही दीवानी हो गयीं और अन्त तक उसी छवि की पुजारिन बनी रहीं। यही कारण है कि हम उनके पदों में रूप-वर्णन के अतिरिक्त शक्ति और शील की चर्चा नहीं पाते। सूर ने अपने पदों में रूप, शक्ति और शील तीनों की चर्चा की है।

मीराँ ने शृङ्गार के केवल विरहपक्ष का ही चित्रण बड़ी सफलता-पूर्वक किया है; पर सूर ने दोनों पक्षों में अपने काव्य-कौशल का चमत्कार दिखाया है। कृष्ण के प्रति सूर की विरह-वेदना गोपियों द्वारा व्यंजित हुई है। इसलिए उसमें सूर सामने न आकर गोपियाँ ही सामने आती हैं। काव्य की दृष्टि से सूर में कलापक्ष और भावपक्ष दोनों की समान रूप से प्रधानता है, मीराँ में केवल भावपक्ष है। इस प्रकार सूर और मीराँ दोनों एक ही पथ के-पथिक होने पर भी एक नहीं हैं।

—६—

गोस्वामी तुलसीदास

जन्म सं० १५८९ *मृत्यु सं० १६८०*

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म सं० १५८६ के लगभग राजापुर, जिला बाँदा, में हुआ था। वह पाराशर गाँव के सरयूपारी ब्राह्मण थे।

जीवन-परिचय

उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। उनके विषय में जनश्रुति है कि वह बारह मास तक गर्भ में रहे और जब उत्पन्न हुए तब उनकी अवस्था पाँच वर्ष के बालक के समान ज्ञात होती थी और मुँह में दाँत

थे। पैदा होते ही उनके मुख से 'राम' शब्द निकला। इन सब लक्षणों को देखकर उनके माता-पिता ने उन्हें मुनियाँ नाम की एक परिचारिका के आश्रय में दे दिया। मुनियाँ ने उनका पालन-पोषण किया और उनका नाम रामबोला रखा। इस जनश्रुति पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, पर इतना तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि बाल्यावस्था में तुलसीदास को अपने उदर-पोषण के लिए दर-दर ठोकरें खानी पड़ी थीं। इसका उल्लेख उन्होंने स्पष्ट रूप से 'कवितावली' के अनेक छन्दों में किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि उनके जन्म के थोड़े ही दिनों बाद उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था।

माता-पिता की सहज छत्र-छाया से वञ्चित होने के पश्चात् तुलसीदास किसी रामोपासक साधु सम्प्रदाय के सम्पर्क में आ गये। इससे उनकी पेट की चिन्ता जाती रही। वह साधु-सन्तों के साथ बराबर घूमते रहे और विद्याभ्यास भी करते रहे। हनुमान की उपासना उन्होंने अपनी छोटी अवस्था से ही आरम्भ कर दी थी जो अन्त तक उनके जीवन के साथ बनी रही। उनके गुरु कौन थे, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर उन्होंने राम-कथा पहले-पहल अपने गुरु के मुख से शूकरक्षेत्र—वर्तमान समय का सोरों—में सुनी थी। पहली बार उन्होंने इस कथा का रहस्य नहीं समझा। दूसरी बार जब उनके गुरु ने फिर वही कथा सुनाई तब वह उनकी समझ में आ गई। इससे यह स्पष्ट है कि उनको अपने गुरु के साथ कई वर्षों तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस सुयोग से उन्होंने पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपने गुरु से ही संस्कृत पढ़ी। उनके गुरु काशी में रहते थे, इसलिए उन्होंने काशी में रहकर वेद, पुराण, दर्शन आदि का विधिपूर्वक अध्ययन किया। कहते हैं, काशी से वह कुछ दिनों के लिए राजापुर चले गये और वहीं दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्ना के साथ उनका विवाह हुआ। तरुण तुलसी रत्ना के रूप-गुण पर मुग्ध होकर अपना सब कुछ भूल

गये। उनकी इस प्रकार की आसक्ति देखकर एक दिन रत्ना ने उनसे कहा:—

अस्थि चर्ममय देह मम, तामैं जैसी प्रीति।
तैसी जो श्री राममँह होति न तो भव-भीति॥

अपनी स्त्री का यह व्यंग तुलसी सहन न कर सके। वह तुरन्त घर से निकल पड़े। गृह त्यागने के पश्चात् वह पुनः काशी आये और बड़ी तत्परता से धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। 'नाना पुराण निगमागम' आदि के अध्ययन से उनकी प्रतिभा को विकास का मार्ग मिल गया और उन्होंने अपना भावी पथ निश्चित कर लिया।

भलीभाँति प्रौढ़ता प्राप्त करने के पश्चात् तुलसीदास सम्भवतः सं० १६३१ में काशी से अयोध्या गये और वहीं उन्होंने विश्व-महाकाव्य 'रामचरितमानस' का प्रणयन प्रारम्भ किया। 'मानस' के कुछ अंश अयोध्या में रचने के पश्चात् वह पुनः काशी चले गये और वहीं उन्होंने उसे समाप्त किया। इस ग्रन्थ की रचना में उनका अधिक समय लग गया। कहा जाता है कि 'रामचरितमानस' की ख्याति से चिढ़कर वहाँ के कुछ दुष्ट पंडितों ने उसे नष्ट करने की कुचेष्टा की और तुलसीदास को बहुत तंग किया। उनसे तंग आकर तुलसीदास ने 'विनयपत्रिया' की रचना की।

काशी में तुलसीदास का निवास पहले प्रह्लाद घाट पर था। प्रह्लाद घाट पर गंगाराम ज्योतिषी रहा करते थे। काशी आने पर तुलसीदास की उनसे मित्रता हो गई थी। इसलिए वह वहीं रहते थे। इन्हीं गंगाराम के लिए उन्होंने अपने एक ग्रन्थ 'रामाज्ञाप्रश्न' की रचना की थी। प्रह्लाद घाट पर वह कई वर्षों तक रहे। इसके बाद वह सम्भवतः अस्सीघाट पर चले आये। अस्सीघाट पर उनके मित्र टोडर रहते थे। सं० १६६६ में टोडर की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों में उनकी सम्पत्ति के लिए जो झगड़ा हुआ

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

तुलसी की रचनाएँ

तुलसी ने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इनमें से १. रामचरितमानस, २. विनयपत्रिका, ३. दोहावली, ४. कवितावली, ५. गीतावली, ६. रामाज्ञाप्रश्न, ७. बरवै रामायण, ८. रामलला नहछू, ९. कृष्णगीतावली, १०. वैराग्य-संदीपिनी, ११. पार्वती मंगल और १२. जानकी मंगल प्राप्त हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने एक सच्चे भक्त की भाँति अपने स्वामी राम का सम्पूर्ण जीवन दोहा-चौपाइयों में चित्रित किया है। विनयपत्रिका में उन्होंने राग-रागनियों में देवी-देवताओं की विनय सम्बन्धी पद लिखे हैं। इसके पश्चात् उन्होंने ज्ञान, वैराग्य, संसार की नश्वरता, मोह-माया, आदि पर दृष्टि डालते हुए कुछ अपने सम्बन्ध में भी निवेदन कर दिया है। दोहावली में ५७३ दोहों का संग्रह है। इन दोहों में से कुछ तो नवीन हैं और कुछ उनकी अन्य रचनाओं से लेकर संग्रहीत किये गये हैं। अधिकांश दोहे उपदेशात्मक और भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। कवितावली का दूसरा नाम कवित्त रामायण भी है इसमें रामकथा कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदी छन्दों में कही गई है। गीतावली का निर्माण सूरसागर की शैली के अनुसार किया गया है। इसमें राग-रागनियों का सुन्दर समावेश है। कथा-प्रसंग कुछ भेद के साथ मानस से मिलता-जुलता है। रामाज्ञाप्रश्न में रामकथा का वर्णन दोहों में किया गया है। दोहों का क्रम इस प्रकार रखा गया है कि प्रश्नकर्ता को दोहों-द्वारा ही शुभाशुभ परिणाम का पता चल जाता है। बरवै रामायण में रामकथा बरवै छन्द में कही गई है। इसमें सात काण्ड और ६९ छन्द हैं। इसके अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि इसमें तुलसी ने स्फुट रूप से रामकथा वर्णन की है। यह रस और अलंकार-योजना-प्रधान ग्रन्थ है। रामलला नहछू में केवल २० छन्द हैं। इसमें

सोहर छन्द का प्रयोग किया गया है। ऐसे छन्दों को स्त्रियाँ मंगलोत्सवों पर गाती हैं। कृष्णगीतावली में कृष्णकथा का वर्णन है। यह स्फुट पदों का संग्रह है। वैराग्य संदीपिनी ६२ छन्दों का छोटा सा काव्य-ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और साथ ही संत-महात्माओं के लक्षण दिये गये हैं। पार्वती मंगल में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें हरिगीतिका छन्द का प्रयोग हुआ है। जानकी मंगल में राम और सीता के विवाह की कथा वर्णन की गई है। इसमें भी अरुण और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है।

तुलसी की भक्ति का स्वरूप

तुलसीदास रामानन्द के शिष्य थे। उन्होंने राम को साकार रूप में ग्रहण किया। वह राम को विष्णु का अवतार मानते थे। लोक में वर्णाश्रम धर्म के वह पक्के समर्थक थे, पर उपासना के क्षेत्र में जाति-पाँति की मर्य्यादा को व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक क्षेत्र में उनका मत शंकराचार्य से बहुत कुछ समता रखता था, पर मोक्ष की अपेक्षा वह भक्ति को अधिक समझते थे। उन्होंने कभी मोक्ष की चिन्ता नहीं की। राम की भक्ति में वह अपने जीवन का, अपनी साधना का उत्कर्ष मानते थे।

तुलसीदास मध्ययुग के भक्त थे। इस युग के भक्तों का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ भागवत पुराण था, परन्तु अन्यान्य पुराणों को भी उन्होंने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया था। भागवत पुराण के अनुसार तुलसी के राम स्वयं भगवान् के रूप हैं। उन्होंने धर्म की हानि और राक्षसों की वृद्धि के कारण संसार की पीड़ा दूर करने के लिए मनुज रूप में अवतार लिया है। तुलसीदास ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—निर्गुण और सगुण। उनकी सम्मति में निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप दुर्लभ है। वह कहते हैं:—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोई।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होई

तुलसीदास ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जो भगवान् निर्गुण है, अरूप है, वही भक्त के प्रेम-वश सगुण रूप धारण करते हैं। भगवान् के वास्तविक रूप को समझने के लिए उनके दोनों रूपों की उपासना करना आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने अपनी भक्ति में दोनों रूपों का महत्त्व दिखाया है और सगुण उपासना को लोक-धर्म के अनुकूल बताया है। वह कहते हैं :—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कुछ भेदा। गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा ॥
अगुन, अरूप, अलख अज जोई। भगत-प्रेम बस सगुन सो होई ॥

भगवान् के इन दोनों रूपों की उपासना के मार्ग हैं—ज्ञान और भक्ति। तुलसीदास की सम्मति में ज्ञान-मार्ग कृपाण की धारा है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। यदि उसे किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्य पद प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने से वह कैवल्य पद बिना इच्छा के प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है। अब प्रश्न यह है कि भगवान् की कृपा किस प्रकार प्राप्त की जाय? इसके लिए दो उपायों का विधान है—वैधी भक्ति और रागात्मक भक्ति। कर्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते हैं और उन नियमों के अनुसार जो उपासना की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। दूसरे प्रकार की भक्ति है रागात्मक भक्ति। स्वाभाविक रूप से जब भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वही भक्ति रागात्मक भक्ति कहलाती है। वैधी भक्ति का चरम लक्ष्य रागात्मक भक्ति ही है।

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहिं पाहीं। मोहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की है। दास्य भाव में ऐश्वर्य-बोध का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भक्त को भगवान् के तीनों रूपों पर अधिक जोर देना पड़ता है! भगवान् के ये तीन रूप

हैं—१. क्षमावान् रूप २. शरणागत-वत्सल रूप और ३ करुणायतन रूप। इन रूपों के द्वारा भगवान् भक्तों के बड़े-से-बड़े पातकों को क्षमा कर देते हैं, उनकी शरण में आने पर भक्त कृतकृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप नष्ट हो जाते हैं। तुलसीदास ने भगवान के इन तीनों रूपों का बार-बार उल्लेख किया है। यही कारण है कि उनके राम-काव्य में ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य हो ही नहीं पाया। भगवान् के ऐश्वर्यरूप का उन पर इतना अधिक प्रभाव है, वह राम के शील, सौन्दर्य और शक्ति पर इतने मुग्ध हैं कि वह उनको बराबर याद दिलाते चलते हैं। उनके राम सौन्दर्य के आगार हैं, शक्ति के प्रतीक हैं और शील की प्रतिमा हैं। सगुणोपासना के यही सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। सौन्दर्य भगवान् का लोकपालन रूप है, शील भगवान् का लोकरंजन रूप है और शक्ति भगवान् का उद्भव और लय का रूप है। तुलसी की भक्ति इन्हीं तीनों सोपानों से होकर ऊपर उठी है। भक्ति का अधिकारी होने के लिए इन तीनों सोपानों में से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संक्षेप में तुलसीदास की भक्ति का यही स्वरूप है।

गोस्वामीजी हिन्दी के भक्त कवि हैं। राम का पवित्र जीवन उनके काव्य का विषय है। उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में राम के जीवन सुन्दर और आकर्षक झाँकियाँ उपस्थित की हैं। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक। राम-चरितमानस उनका प्रबन्ध-काव्य है। प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से उसका स्थान सर्वोच्च है। उसमें दो प्रकार की कथाओं का समन्वय हुआ है—प्रमुख और गौण। राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसमें पौराणिक कथाओं का सन्निवेश बड़ी कुशलता से किया गया है। उनकी प्रबन्धपटुता प्रशंसनीय है। उनके कथोपकथन और चरित्र-चित्रण भी ठोस और सजीव हैं।

तुलसी की काव्य-साधना

उनका 'मानस' वर्णनात्मक काव्य है। वर्णनात्मक काव्य में जीवन के मार्मिक स्थलों का चित्रण अत्यन्त अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से 'मानस' में गोस्वामीजी ने राम के जीवन के अनेक मार्मिक स्थलों का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप और भरत की प्रतीक्षा, आदि रामकथा के मार्मिक स्थलों के चित्रण गोस्वामीजी की प्रतिभा और भावुकता के परिचायक हैं। उन्होंने अपनी सहज भावुकता के बल से इन मर्मस्पर्शी स्थलों का इतना सुन्दर चित्र अंकित किया है कि उसका अनुभव करके, उसे देखकर हृदय की समस्त कलुषित कामनाएँ मिट जाती हैं। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं उतना अधिक अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके भाव का अनुभव किया है। उनके भावों में जो तीव्रता है, जो चुटीलापन है, जो स्पन्दन और तिलमिलाहट है वह केवल उनकी इसी पैठ के कारण। इसीलिए उनकी अनुभूतियों को, उनके राग-विराग को, उनके हास्य और रुदन को हम अपनी अनुभूति, अपना राग-विराग और अपना हास्य-रुदन समझते हैं और ऐसा समझकर हम उनके साथ, उनके इष्टदेव के साथ, उनके आदर्शों एवं उद्देश्यों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और उनको, और अपने हृदय को— दोनों को एक साथ साहित्य के पुनीत भक्ति-जल में गोता लगाते हुए पाते हैं। इन मर्मस्पर्शी स्थलों के वर्णन के साथ-साथ तुलसी के बाह्य दृश्य-चित्रण भी बड़े अनूठे हुए हैं। उन्होंने अपने प्रबन्ध के पात्रों के चित्रण में जिस प्रकार उनके शील-स्वरूप का, उनके अंतस की प्रवृत्तियों का आलेखन किया है उसी प्रकार उनके अंग-सौष्ठव को भी प्रत्यक्ष किया है। इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण में उनका प्रकृति-वर्णन विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। उनका प्रकृति-वर्णन मनोरम होते हुए भी यथार्थ है। उसमें चित्रकारिता, कविता तथा प्रकृति-विज्ञान का लोकोत्तर चमत्कार है। वह स्वाभाविक है और प्रसाद तथा माधुर्य गुण से ओत-प्रोत है। देखिए :—

> झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिविध ताप हर त्रिविध बयारी॥
> बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥

भिन्न-भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी गोस्वामीजी ने किया है। आखेट के समय मृग का लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचन्द्र का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

> सुभग सरासन सायक जोरे।
> खेलत राम फिरत मृगया वन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
> जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौहैं तकत सुभौंह सकोरे॥

गोस्वामीजी के भाव जिस उत्तमता से अभिव्यक्त हुए हैं उस पर तो जितना कहा जाय कम है। वह भाव-लोक के राजा हैं। थोड़े से शब्दों में बहुत से भावों को भर देना उनके बायें हाथ का खेल है। कहीं-कहीं तो उनका एक-एक छन्द सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर हो गया है। वह अपने भाव-अभिव्यंजन में अधिक कल्पनाशील नहीं हैं। पंचतत्त्व निर्मित संसार को ही उन्होंने अपनाया है और उसमें विचरने-वाले मानव-हृदय के गीत ही उन्होंने गाये हैं। पर ऐसा करने में उन्होंने अपनी कथा-वस्तु पर सदैव ध्यान रखा है। विनय, दैन्य, आत्म-समर्पण, शील, आत्मग्लानि, क्रोध, उत्साह, घृणा, राग, विराग आदि से सम्बन्ध रखनेवाले भावों की उनकी रचनाओं में प्रचुरता होने पर भी कथानक के प्रवाह में बाधा उपस्थित नहीं होने पाई है।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में सभी रसों का विधान बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वह रस-सिद्ध कवीश्वर थे। उनकी प्रत्येक पंक्ति में कुछ-न-कुछ रस-चमत्कार विद्यमान है। सामान्यतः नीरस

प्रतीत होनेवाली पंक्ति में भी कथा-प्रसंग का वह प्रवाह मिलेगा जिसमें रस-तरंगें आप ही आप उछल रही होंगी। उनके 'मानस' में तो शृंगार, हास्य, करुणा, वीर, वीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक और अद्भुत रसों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। रसों की भाँति अलंकार-विधान भी परम मनोरम बन पड़ा है। उनकी उपमाएँ बड़ी सुन्दर होती हैं। अपने रूपकों में भी उन्होंने अपनी उपमाओं की विशेषता का ध्यान रखा है। उनका उपमा अलंकार ही कहीं रूपक, कहीं उत्प्रेक्षा और कहीं दृष्टान्त अलंकार बनकर बैठा है। उनके साङ्गोपाङ्ग रूपक एकदम बेजोड़ होते हैं। वर्ण्य विषय इन स्वाभाविक रीतियों से आये हुए अलंकारों से एकदम खिल उठता है। उनकी रचनाओं में अलंकार हाथ बाँधे चले आते हैं। केशव की भाँति उनकी अलंकार-योजना में प्रयास नहीं है।

तुलसी की भाषा

तुलसीदास मुख्यतः अवधी भाषा के कवि हैं। यह प्रायः वही भाषा है जिसमें गोस्वामीजी के पूर्व जायसी ने पद्मावत लिखा था पर दोनों में अन्तर है। यह अन्तर व्याकरण का नहीं शैली का है। जायसी की अवधी जहाँ शुद्ध तद्भवमय है, वहाँ तुलसी की अवधी तत्समों तथा अर्ध-तत्समों से भरी पड़ी है। तुलसी अपनी भाषा को गँवारू बताते हैं, पर वास्तव में वह अत्यधिक परिमार्जित भाषा है। उनकी भाषा विद्वानों की लिखी ग्रामीण भाषा है। उसमें संस्कृत काव्य का अनुकरण पर्याप्त रूप से है। उनकी अवधी में पूर्वी और पछाहीं दोनों का मेल है। अवधी पर उनका पूरा अधिकार है। इस भाषा में उन्होंने साहित्यिकता तथा मार्दव का सृजन बड़ी ही कुशलता से किया है।

अवधी की भाँति तुलसी ने ब्रजभाषा का भी उपयोग किया है और बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनकी रचनाओं में इस भाषा का सहज सौन्दर्य और माधुर्य देखने योग्य है। कवितावली, विनयपत्रिका तथा गीतावली तीनों की भाषा ब्रजभाषा है। कवितावली ब्रज की

चलती भाषा का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ और खींचा-तानी नहीं है।

गोस्वामीजी ने कहीं-कहीं वीरगाथा-काल की राजस्थानी-मिश्रित भाषा और भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी-प्रभावित भाषाओं का भी प्रयोग किया है। आवश्यकतानुसार उनकी भाषा में मुग़लकालीन जन-साधारण में व्यवहृत अरबी तथा फ़ारसी भाषाओं के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है, परन्तु उन्होंने उन शब्दों को हिन्दी के साँचे में ढाल लिया है। इस प्रकार के शब्द अंदेसा, खाना, गरीबनिवाज, गर्दन, जहाज, जहान, निसान, प्यादा, फौज इत्यादि हैं।

गोस्वामीजी की भाषा का सर्वप्रधान गुण साहित्यिकता है। उन्होंने अपनी भाषा को लोक-व्यवहार की भाषा का रूप दिया है। उसमें सरलता, बोधगम्यता, सौन्दर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज इत्यादि सभी गुणों का समावेश है। उनका एक भी शब्द उक्ति-चमत्कार अथवा वाक्य-वैदग्ध, तुकबन्दी अथवा मात्रापूर्ति के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। उनकी रचना में कुछ भी व्यर्थ नहीं है। उनका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर नगीने की भाँति जमा बैठा है और अर्थ-गौरव की वृद्धि में सहायक है। उनका वाक्य-विन्यास प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। जिस स्थान पर जैसी भाषा होनी चाहिए वैसी ही भाषा का उन्होंने प्रयोग किया है। उनकी भाषा भावानुरूपिणी है। इसीलिए उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं है। वह सदैव शिष्ट, संयत, और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करते हैं। अवसरानुकूल भाषा को कोमल या ओजपूर्ण बना देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। उनका शब्द-कोश इतना विशाल है जितना हिन्दी के किसी भी कवि का नहीं है। उन्होंने हज़ारों संस्कृत, प्राकृत तथा विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अधिकारपूर्ण प्रयोग किया है। थोड़े से शब्दों में गंभीर भाव भर देना उनके भाषा-पाण्डित्य की एक विशेषता है। प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने में वह दक्ष हैं। सूर अवधी नहीं जानते थे, जायसी व्रजभाषा से अपरिचित थे, पर

तुलसी का दोनों पर समान अधिकार है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी उन्होंने बड़े कौशल से किया है।

जिस प्रकार गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं के लिए अपने समय की प्रचलित व्रज और अवधी दोनों को अपनाया, उसी प्रकार उन्होंने उस समय की सभी काव्य-शैलियों को अपनाकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूर के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रीतिकारों के सवैया-कवित्त, रहीम का बरवै, गाँववालों के सोहर आदि जितने प्रकार की छन्द-पद्धतियाँ उन दिनों लोक में प्रसिद्ध थीं उन सबको उन्होंने समानाधिकार से स्थान दिया और उन पर अपने व्यक्तित्व की, अपनी विद्वत्ता की, अपनी प्रतिभा की छाप लगा दी। इसीलिए तुलसी अपने प्रत्येक छंद में बोलते हुए-से ज्ञात होते हैं। उनका कोई छन्द शिथिल नहीं है। विषय और भाव के अनुकूल छन्दों का विधान करने में वह बेजोड़ हैं। मानस में दोहा-चौपाई की शैली का अनुसरण किया गया है। यह शैली महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। विनयपत्रिका में फुटकर पद गीत की शैली में रचे गये हैं। मुक्तक काव्य तथा भजन के पदों में इस शैली के महत्त्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। कवितावली सवैया छन्दों में है। नीति तथा उपदेश के लिए दोहावली में दोहों की शैली को स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने राम के पुनीत जीवन को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रत्येक शैली का अनुसरण किया है और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन छन्दों में उनके विचार और सिद्धान्त भरे पड़े हैं। भाषा, भाव और छन्दों का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसी की शैली

तुलसीदास और सूरदास दोनों एक ही पथ के पथिक थे। दोनों का अनन्य ब्रह्म के विष्णुत्व में समान रूप से विश्वास था। भागवत-धर्म में दोनों की आस्था थी। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति दोनों में

नहीं थी। अपना मत प्रतिष्ठापित करना अथवा अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करना दोनों का ध्येय नहीं था। दोनों का आविर्भाव भी एक ही समय में, एक ही वातावरण में हुआ था, पर दोनों उपासना के क्षेत्र में एक दूसरे से भिन्न थे। तुलसी स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे; सूर वल्लभाचार्य की शिष्य-परम्परा में। इसलिए तुलसी के इष्टदेव थे राम और सूर के इष्टदेव थे कृष्ण। तुलसी-साहित्य पर रामानन्द की विचार-धारा की अमिट छाप है तो सूर-साहित्य पर वल्लभ सम्प्रदाय की विचार-धारा की। तुलसी के राम पुत्र, भाई, पति, भक्तवत्सल, योद्धा, लोकनायक और मर्यादा-रक्षक हैं; सूर के कृष्ण नवनीत-प्रिय बालक, चंचल किशोर, तरुण प्रेमी, प्रौढ़ मित्र, कुशल योद्धा, कर्मयोगी और राजनीतिज्ञ हैं। इस प्रकार इष्टदेवों के चरित्रों में अन्तर होने के कारण सूर और तुलसी की उपासना-पद्धति में भी अन्तर पड़ गया है। तुलसी ने अपने राम की सेव्य-सेवक भाव से भक्ति की है और सूर ने अपने कृष्ण की सखा भाव से। तुलसी अपने इष्टदेव के सामने इसीलिए विनम्र, दीन, मर्यादाशील और नतमस्तक हैं। उन्होंने अपने स्वामी के स्वामित्व की प्रत्येक अवसर पर रक्षा की है। एक सच्चे सेवक में जिन गुणों का होना आवश्यक है वह सब तुलसी में विद्यमान हैं। सूर अपने इष्टदेव के सामने उच्छृंखल, चपल, हास्य-विनोद-प्रिय और आलोचक हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह उन्हें फटकारते हैं और पुचकारते भी हैं। एक सच्चे सखा में जिन गुणों का होना आवश्यक है वह सब सूर में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से तुलसी और सूर अपने-अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति-भावना में निष्कपट, उदार और संयत हैं। उन दोनों की भक्ति पर कोई उँगली नहीं उठा सकता, कोई बट्टा नहीं लगा सकता।

तुलसी और सूर

अब रही सूर और तुलसी के साहित्य की तुलना। इस क्षेत्र में सूर-साहित्य से प्रभावित होकर किसी ने सूर को बड़ा मान लिया और

कह दिया—'सूर-सूर तुलसी ससी' और किसी ने तुलसी साहित्य से प्रभावित होकर तुलसी को बड़ा मान लिया और कह दिया कि तुलसी के सामने सूर कुछ भी नहीं हैं। वास्तव में इस प्रकार की तुलना अपना कोई महत्त्व नहीं रखती। यदि दोनों के काव्य-क्षेत्र समान होते, दोनों की इष्ट-साधना समान होती, दोनों की विचारधारा पर एक ही इष्टदेव का प्रभाव होता तो दोनों की प्रतिभा और विकास का पता भी लगता, पर दोनों के दृष्टिकोणों में विभिन्नता होने के कारण इस प्रकार के निर्णय से काम नहीं चल सकता। तुलसी का क्षेत्र राम का लोकपावन सम्पूर्ण जीवन था। इस जीवन में परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन का समन्वय हो सकता था। सूर के आलम्बन थे कृष्ण। कृष्ण का जीवन राम के जीवन की अपेक्षा विशाल अवश्य था, पर उनके द्वारा लोक-धर्म की स्थापना नहीं हो सकती थी। लोक-धर्म की स्थापना के लिए ऐसे आदर्श जीवन की आवश्यकता थी जो परिवार से लेकर समूचे राष्ट्र तक विस्तृत हो। कृष्ण का जीवन ऐसा जीवन नहीं था। इसके अतिरिक्त सूर अपनी भक्ति-भावना के दृष्टिकोण से भी बँधे हुए थे। सखा-भाव से कृष्ण की भक्ति करने के कारण उनकी दृष्टि कृष्ण के जीवन के केवल उन्हीं अंगों तक सीमित रही जिनसे उनका प्रयोजन सिद्ध हो सकता था। इसलिए वह उनकी बाल-लीलाओं और प्रेम-लीलाओं से आगे न बढ़ सके। तुलसी अपने राम के सेवक थे। इसलिए वह उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके साथ रहे।

तुलसी की रचनाओं में उनका व्यक्तित्व कई रूपों में हमारे सामने आता है। वह एक ही साथ भक्त, कवि, दार्शनिक, व्यवस्थापक, सुधारक, उपदेशक और धार्मिक नेता हैं। उन्होंने इन सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बड़ी सफलतापूर्वक काम किया है। सूर अपने व्यक्तित्व में केवल भक्त, कवि और कुछ अंशों में दार्शनिक हैं। उनकी दार्शनिकता उनकी भक्ति के भार से दब-सी गई है, वह उभरने नहीं पाई। तुलसी

में भी भक्ति का आवेश है, पर उनकी दार्शनिकता उससे दबी नहीं है।

तुलसी ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों को स्थान दिया है। वात्सल्य, शृंगार, वीर, करुण, वीभत्स, रौद्र, हास्य, शान्त भयानक, और अद्भुत रसों का परिपाक करने में वह समर्थ हुए हैं। यदि ऐसा न करते तो उनके महाकाव्य में महाकवित्व न आता, पर इन रसों का विधान एक निश्चित सीमा के भीतर ही हुआ है। सूर ने भी अपनी रचनाओं में रसों का आयोजन किया है। उन्होंने शान्त, वीर, हास्य, करुण, भयानक, अद्भुत, शृंगार और वात्सल्य रस के अच्छे चित्र उतारे हैं, पर उनका काव्य गीतिकाव्य है। गीति-काव्यों में समस्त रसों के निरूपण की पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं रहती। इसीलिए उनकी रचनाओं में अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार और वात्सल्य की बड़ी सुन्दर योजना बन पड़ी है। बाल-स्वभाव का जैसा अनुभव उन्हें है वैसा तुलसी को नहीं है।

सूर का काव्य गीतात्मक है। इसलिए उसमें वर्णनों को विशेष स्थान नहीं मिला, फिर भी वह उससे एकदम अछूता नहीं है। उन्होंने उत्सव, लीला, रूप और प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन में उन्होंने चित्रोपमता, अलंकार-विधान और रस-सृष्टि पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उत्सव तथा लीलाओं के वर्णन में उनकी आत्माभिव्यक्ति और गीतात्मकता देखने योग्य है। तुलसी का काव्य मुख्यतः प्रबन्ध-काव्य है। इसलिए उसमें वर्णनों को विशेष रूप से स्थान मिल सका है। उन्होंने रूप, उत्सव, नगर, प्रकृति, युद्ध आदि का वर्णन राम के देवत्व की प्रतिष्ठा, शीलमयता, नीति-स्थापन एवं अलंकार-योजना के लिए ही किया है।

चरित्र-चित्रण के विचार से सूर और तुलसी दोनों अपनी अपनी पृथक सत्ता रखते हैं। सूर की रचनाओं में चरित्र-चित्रण को बहुत कम स्थान मिला है। इसका कारण काव्य-विषय का संकोच है।

तुलसी की रचनाओं में चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। इसका कारण उनके काव्य-विषय का विस्तार है। भाषा के क्षेत्र में सूर की अपेक्षा तुलसी का अधिकार अधिक विस्तृत है। तुलसी का ब्रज और अवधी दोनों काव्य-भाषाओं पर समान अधिकार है और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य-रचना प्रचलित की उन सब में बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यह बात सूर में नहीं है। सूर की अपेक्षा तुलसी में पाण्डित्य की मात्रा अधिक है और वह छन्दशास्त्र से भली-भाँति परिचित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर और तुलसी अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं। कविता दोनों की साधन-मात्र है, साध्य नहीं। पर तुलसी हमारे सामने एक धर्मप्रवर्तक के रूप में आये और सूर भक्त के रूप में। दोनों अपने-अपने रूपों में सफल हैं।

—७—

नन्ददास

जन्म सं० १५९० *मृत्यु सं० १६४०*

जीवन-परिचय

नन्ददास का जन्म कब और कहाँ हुआ, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। डा० श्यामसुन्दरदास ने उनका जन्म संवत् १५९० माना है। सोरों सामग्री के अनुसार यह कहा जाता है कि वह सूकर क्षेत्र, वर्तमान सोरों, जिला एटा के निकटवर्ती रामपुर ग्राम के निवासी थे और वहीं उनका जन्म हुआ। वह संभवतः सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम जीवाराम और चाचा का नाम आत्माराम था। जीवाराम के दो पुत्र थे—नन्ददास और चन्द्रहास। आत्माराम के पुत्र का नाम तुलसीदास

था। तुलसीदास आयु में नन्ददास से बड़े थे। कहा जाता है कि बचपन में तुलसीदास और नन्ददास ने एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी। पर इस कथन की पुष्टि अभी नहीं हुई है।

नन्ददास के माता-पिता का देहान्त उनके बचपन में ही हो गया था। इसलिए वह अपनी दादी के पास सोरों में आकर रहने लगे। वहीं उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय के एक विद्वान शिक्षक, नरहरि पंडित से संस्कृत साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इसके साथ ही काव्य-रचना और संगीतकला की ओर भी उनकी बचपन से ही रुचि थी और वह अल्प काल में ही इन विषयों में पारंगत हो गये थे।

आरंभ में रामानन्दी सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने के कारण नन्ददास राम-भक्त थे। उनकी रचना में रामचन्द्र और हनुमान विषयक जो पद मिलते हैं, वे संभवतः उसी समय लिखे गये थे। राम-भक्त होकर वह कृष्ण-भक्त किस प्रकार हो गये, इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि द्वारकापुरी जानेवाले एक यात्री-दल के साथ मथुरा तक गये। मथुरा में यह दल कुछ दिनों के लिए रुक गया। नन्ददास ने यहाँ उस दल का साथ छोड़ दिया और अकेले ही द्वारकापुरी की ओर चल दिये। उन्हें मार्ग ज्ञात नहीं था, इसलिए भटककर वह सिंहनद नाम के एक ग्राम में जा पहुँचे। वहाँ एक खत्री की रूपवती स्त्री पर वह ऐसे मोहित हो गये कि प्रतिदिन उसके घर का चक्कर लगाने लगे। यह देखकर उस स्त्री के घरवाले नन्ददास से उसकी रक्षा करने के लिए उसे व्रज ले गये और गोकुल में जाकर ठहरे। नन्ददास भी वहाँ जा पहुँचे। अन्त में यह प्रेम-कहानी गोस्वामी विट्ठलनाथ के कानों तक पहुँची। उन्होंने नन्ददास को अपने पास बुलाया और उन्हें उपदेश दिया। इससे नन्ददास का मोह दूर हो गया। वह गोस्वामीजी के शिष्य हो गये और पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये।

पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद नन्ददास का जीवन-

क्रम बिल्कुल बदल गया। वह संसारिक माया-मोह त्यागकर कृष्ण के प्रेम में लीन हो गये। गोस्वामी विट्ठलनाथ तथा पुष्टि सम्प्रदाय के विद्वानों के सत्संग में रहने से जहाँ उनका समय कथा-वार्ता और शास्त्र-चर्चा में रहने लगा। वहाँ ठाकुरजी के कीर्तन में सम्मिलित होने का भी अवसर उन्हें मिलने लगा। काव्य एवं संगीत में स्वाभाविक रुचि होने के कारण उनका मन कीर्तन में विशेष रूप से लगता था। उस समय वह स्वरचित पद भी गाते थे। उनके इन पदों की प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि वह शीघ्र ही पुष्टि सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों में गिने जाने लगे और अन्त में 'अष्टछाप' की स्थापना होने पर वह उसमें सम्मिलित कर लिये गये।

कहा जाता है कि पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् नन्ददास कुछ दिनों तक गोवर्धन में सूरदास के सत्संग में रहे। सूरदास के सात्विक जीवन के प्रभाव से नन्ददास के हृदय में दैन्य भाव का विकास तथा मर्यादा-भक्ति के स्थान पर शृंगार-भक्ति का उदय हुआ। इससे उनकी काव्य-प्रतिभा को बहुत बल मिला। सांप्रदायिक जनश्रुति के आधार पर यह भी कहा जाता है कि सूरदास के आदेश से उन्होंने अपने ग्राम रामपुर जाकर कमला नामक एक कन्या के साथ विवाह किया जिससे कृष्णदास का जन्म हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने अपने ग्राम रामपुर का नाम बदलकर श्यामपुर रखा और वहाँ श्यामसर नाम का एक तालाब भी बनवाया। इस प्रकार कुछ समय तक वह गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करके पुनः गोवर्धन चले गये और वहीं कृष्ण की लीला का रस लेने लगे।

गोवर्धन में वह स्थायी रूप से मानसी गंगा पर रहते थे। वहाँ रहते हुए उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन तथा ग्रन्थ-रचना में लगा दिया और अन्त में वहीं सं० १६४० के लगभग एक पीपल के वृक्ष के नीचे परमधाम की यात्रा की।

नन्ददास के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ प्राप्य और कुछ अप्राप्य हैं। अप्राप्य ग्रन्थों के विषय में अभी निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ ग्रन्थ कई-कई नामों से प्रसिद्ध हैं, कुछ के नन्ददास कृत होने में भी संदेह है। उनके प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम हैं—(१) अनेकार्थमंजरी (२) मानमंजरी (३) रसमंजरी (४) रूपमंजरी (५) विरहमंजरी, (६) श्यामसगाई (७) सुदामाचरित (८) रुक्मिणी मंगल (९) भँवरगीत (१०) रासपंचाध्यायी (११) सिद्धान्त-पंचाध्यायी (१२) दशमस्कंध भाषा। इन ग्रन्थों में 'सुदामाचरित' के नन्ददास कृत होने में संदेह किया जाता है।

नन्ददास की रचनाएँ

कुछ लोग उन्हें 'नासिकेत पुराण भाषा' का भी लेखक बताते हैं। यह ब्रजभाषा में लिखा गया ग्रन्थ है अनेकार्थमंजरी और मान-मंजरी उनके कोष-ग्रन्थ हैं। रूपमंजरी, रसमंजरी और विरहमंजरी चौपाई छंद में लिखी गई रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों में जायसी और तुलसी की शैली अपनाई गई है। श्यामसगाई में श्रीकृष्ण के साथ राधा की सगाई होने का उल्लेख है। यह कथा भागवत में नहीं है। रुक्मिणी मंगल कदाचित् तुलसी के जानकी मंगल और पार्वती मंगल से प्रभावित होकर लिखा गया जान पड़ता है। भँवरगीत नन्ददास की उत्कृष्ट रचना है। इसमें उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग एवं ज्ञानमार्ग पर प्रेम की विजय दिखलाई गई है तथा गोरखनाथ-जैसे योगियों के योगपंथ और कबीर आदि संतों के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम-भक्ति का महत्त्व स्थापित किया गया है। इसकी छंद-योजना भी आकर्षक है। 'रासपंचाध्यायी' में कवि की कला का और भी विकास हुआ है। अपनी कोमलकांत पदावली और श्रुति-मधुर भाषा-शैली के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी का 'गीतगोविन्द' कहा जा सकता है। यह रोला छन्द में है। सिद्धान्त-पंचाध्यायी में रासपंचाध्यायी की सैद्धान्तिक व्याख्या है। दशमस्कंध

भाषा में भागवत के दशमस्कंध के प्रारंभिक २९ अध्यायों का भावानुवाद है।

नन्ददास की रचनाओं के इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे। संस्कृत और संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था और ब्रजभाषा पर उनका पूरा अधिकार था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका आविर्भाव उस समय हुआ था जिस समय एक ओर गोस्वामी तुलसीदास अपनी रचनाओं द्वारा राम-भक्तों का पद-प्रदर्शन कर रहे थे और दूसरी ओर सूरदास कृष्ण-भक्तों का नेतृत्व कर रहे थे। नन्ददास इन दोनों महाकवियों से प्रभावित थे। इन दोनों महाकवियों के सम्पर्क में आने का भी उन्हें सौभाग्य प्राप्त था और उनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा भी। कवि-हृदय उन्हें प्राप्त ही था। इसलिए उचित वातावरण मिलने पर उनकी प्रतिभा जाग उठी और उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जो रचना की उसने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना अमर स्थान बना लिया। इन्हीं रचनाओं के कारण उनकी गणना अष्टछाप के कवियों में होने लगी और सूर के पश्चात् उन्हें द्वितीय स्थान मिला। यहाँ हम संक्षेप में उनकी काव्य-रचना पर विचार करेंगे।

नन्ददास की काव्य-साधना

१. नन्ददास की भक्ति का स्वरूप—नन्ददास उच्च कोटि के भक्त थे। अतः उनकी समस्त रचनाएँ भक्ति-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। वह स्वामी वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर उनमें भक्ति के तीन रूप (१) वात्सल्य, (२) सख्य और (३) मधुर या रति प्रतिष्ठित थे। उनके जीवन-वृत्तांत से यह ज्ञात होता है कि उनमें रसिकता की मात्रा विशेष थी। बाल-स्वभाव में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं था। इसीलिए वात्सल्य की ओर वह अधिक नहीं झुके। उनके काव्य में वात्सल्य भाव की जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें उनका

हृदय नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने सूर से प्रभावित होकर अथवा सम्प्रदाय के आग्रह से उनकी रचना की है। हम यह भी बता चुके हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव में आने पर वह पहले राम-भक्त थे। उस समय वह दास्य भाव के भक्त थे। पर इस प्रकार की भक्ति पर उनका मन नहीं टिका। वह टिक भी नहीं सकता था। मधुर-भक्ति के प्रति उनका विशेष अनुराग था अतः वह इसको ही साधना बनाकर काव्य-क्षेत्र में उतरे। उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं सख्य-भक्ति भी मिलती है, पर उसमें उनके काव्य का स्रोत नहीं है। उनके काव्य का पूर्ण विकास तो कृष्ण और गोपियों के संयोग-वियोग के प्रसंगों के चित्रण में ही हुआ है। अतः हम उनकी भक्ति को मधुर-भक्ति का ही रूप दे सकते हैं।

२. **नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि**—अब हम नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे। उनकी रचनाओं से हमें इतना तो ज्ञात ही हो जाता है कि उन्होंने श्रीमद्भागवत के विभिन्न प्रकरणों के आधार पर अपने समस्त ग्रन्थों की रचना की है। उन्होंने भागवत का अनुवाद करके उसकी सामग्री का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग किया है और उसे कलात्मक ढंग से सजाकर काव्य का रूप दिया है। इसके साथ ही वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के कट्टर उपासक होने के नाते उन्होंने उक्त सम्प्रदाय की दार्शनिक विचारधारा का भी यथेष्ट मात्रा में निरूपण किया है। इस प्रकार नन्ददास का सम्पूर्ण काव्य भागवत और स्वामी वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा है और इन्हीं दोनों स्रोतों से उन्हें काव्य की प्रेरणा मिली है।

३. **नन्ददास का कथात्मक काव्य**—हमने पूर्व पंक्तियों में नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में जो चर्चा की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका अधिकांश काव्य कथा-सम्बन्धी होना चाहिए। वास्तव में भी यही बात पुष्टिमार्गीय कृष्ण-कवियों

में केवल वही ऐसे कवि हैं जिन्होंने फुटकर पदों के अतिरिक्त सम्बद्ध कथा लिखने का प्रयास किया है। उनके कथात्मक ग्रन्थ हैं—रास-पंचाध्यायी, श्यामसगाई, रुक्मिणी मंगल, आदि। इनके अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थ भी कथात्मक कहे जा सकते हैं। भँवरगीत भी एक कथात्मक काव्य ही जैसा जान पड़ता है। उसे देखने से ऐसा लगता है कि उन्हें कथा लिखने का व्यसन-सा था। उनमें कथा कहने की क्षमता भी थी। उनका युग ही कथा-वार्ताओं का युग था। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को कथात्मक रूप देने की चेष्टा की पर उन्होंने कथा के कहानी-तत्त्व पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वास्तव में उनके काव्य का यह लक्ष्य नहीं था। वह कथाकार नहीं, कवि थे और इस धारा के कवि थे जिसमें प्रेम और शृंगार को प्रथम स्थान प्राप्त था। इस में सम्बन्ध हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कथात्मक काव्य प्रायः चरित्र-प्रधान होते हैं, परमानन्ददास का कथात्मक काव्य चरित्र-प्रधान नहीं है। वह है भावना-प्रधान सैद्धान्तिक काव्य। नन्ददास ने अपनी कथाओं में पात्रों का समावेश अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप देने के लिए किया है। इसलिए उनकी रचनाओं में हमें पात्रों के वातावरण एक-से मिलते हैं। उनके काव्य में वर्णन अवश्य मिलते हैं। उनके अधिकांश वर्णन मौलिक हैं। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं उन्होंने अन्य कवियों की रचनाओं से भी सहायता ली है। नगर, बाग, बन आदि के वर्णन बड़े सजीव और आकर्षक हैं। पर ऋतु और बारहमासे के रूप में हमें उनके काव्य में प्रकृति-वर्णन भी मिलता है। रूप-वर्णन के तो अनेक चित्र मिलते हैं। रासलीला-वर्णन में तो सूर भी उनसे होड़ नहीं ले सकते।

४. नन्ददास का गीति-काव्य—नन्ददास का गीति-काव्य अपेक्षाकृत कम है। इस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा को अधिक प्रेरणा नहीं मिली। अतः वह अपने पदों के लिए हिन्दी-साहित्य में लोक-प्रिय कवि नहीं

बन सके। साहित्यिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से भी उनके पदों का विशेष महत्त्व नहीं है। पर एक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है। नन्ददास अच्छे गायक थे। इसलिए उनके पद संगीत के स्वर और ताल पर पूरे उतरते हैं। उनमें भाव हैं, भावों की तन्मयता नहीं है। उनके पद कई प्रकार के हैं। कुछ पदों में उन्होंने अपने सम्प्रदाय के अनुसार गुरु-भक्ति के सम्बन्ध में लिखे हैं, कुछ उत्सवों के पद हैं, कुछ कृष्ण के जन्म और बाल-विकास से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ में लीलाओं का वर्णन है, कुछ में राधा-कृष्ण के दाम्पत्य-प्रेम की चर्चा है और कुछ शृंगार लीला के पद हैं। इन पदों पर सूर का स्पष्ट प्रभाव है।

५. नन्ददास की रस-योजना—हम पहले बता चुके हैं कि नन्ददास मधुर भावना के कवि हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में हमें शृंगार रस की ही प्राधनता मिलती है। उन्होंने शृंगार के दोनों रूपों के चित्र उतारे हैं और इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली है। अन्य रसों का उनके काव्य में प्रायः अभाव है। वात्सल्य, रति, शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य आदि भावों का थोड़ा-बहुत वर्णन उन्होंने किया है, पर उन रचनाओं से ऐसा जान पड़ता है कि परिस्थितियों के अनुरोध से ही वह इन रसों की ओर आकृष्ट हुए हैं। उनमें कवि की आत्मा की पुकार की वह गूँज़ नहीं सुनाई देती जिसे हम गोपी-कृष्ण के प्रेम के वर्णनों में महत्त्व दे सकें। अतः रसों की दृष्टि से हम उनके काव्य को शृंगार-रस-प्रधान ही मानते हैं। उनका शृंगार-भक्ति-काव्य दो प्रकार का है। एक तो वह जिसमें राधा-कृष्ण का केलिविलास है। इसमें उन्होंने विरह को स्थान नहीं दिया। अतः आदि से अन्त तक लीलाभाव की ही प्राधनता है और हमें स्थूल शृंगार के दर्शन होते हैं, पर शृंगार-शास्त्र का सहारा बहुत कम लिया गया है। दूसरे प्रकार का काव्य विरह-प्रधान है। इस क्षेत्र में वह अधिक प्रभावशाली हैं। रूपमंजरी, विरहमंजरी, भँवरगीत, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी तथा अन्य फुटकर पदों में शृङ्गार के इस पक्ष का अत्यन्त मार्मिक चित्रण और

विश्लेषण हमें उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। उन्होंने विरह के सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं किया है, वियोगिनी की सभी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं का भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभावशाली चित्र उतारा है। उनकी विरह सम्बन्धी रचनाएँ अधिकांश खंड-गीतात्मक हैं।

नन्ददास की भाषा और शैली

नन्ददास की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रज में रहने के कारण उस पर उनका पूरा अधिकार जान पड़ता है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उतार-चढ़ाव में भाषा का सम्पूर्ण सहयोग उन्हें प्राप्त है। इसीलिए हमें उनकी भाषा मधुर, कोमल और प्रसाद-गुण-युक्त मिलती है। उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में कोमलकांत पदावली का व्यवहार किया है और ब्रज के सुमधुर ठेठ शब्दों तथा कहावतों एवं मुहावरों के सुन्दर प्रयोगों से अपनी भाषा को सुसंपन्न बना दिया है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि उनके इसी गुण के कारण उनके सम्बन्ध में कहा जाता है—'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाओं में उनका प्रत्येक शब्द अगूँठी में नगीने की भाँति जड़ा हुआ जान पड़ता है। इसीलिए हमें उनकी रचनाओं में कहीं भी भाषा और भाव की शिथिलता नहीं मिलती। उनकी पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर होते हैं और न लम्बे-चौड़े समास ही। उनके शब्द-चित्र भी बड़े आकर्षक और मधुर होते हैं। थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह जाने की उनकी कला अत्यन्त प्रशंसनीय है। उनकी भाषा में शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। ह्रस्व वर्णों का कलापूर्ण प्रयोग भी उनकी भाषा की एक विशेषता है। अरबी और फारसी भाषाओं के शब्द उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर हैं। शैली की दृष्टि से नन्ददास की समस्त रचनाएँ बेजोड़ कही जा सकती हैं। उनकी शैली का प्रयोग विस्तृत है। हम उन्हें दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते पाते

हैं—आलंकारिक और अनालंकारिक। उनकी आलंकारिक शैली में अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकारों का बड़ी सुन्दरता-से समावेश हुआ है। इन अलंकारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की उन्होंने सृष्टि की है उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है और हृदय पर चोट करने की अद्भुत क्षमता है। उनकी निरलंकारिक शैली प्रायः इतिवृत्तात्मक वर्णनों में मिलती है। भाषा का सहज माधुर्य वहाँ भी बना हुआ है और हम उसके प्रवाह में बह-से जाते हैं।

नन्ददास के काव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है, परन्तु मुख्य छन्द कुछ थोड़े ही हैं। इन्हें कवि ने अपनी प्रतिभा से अच्छी तरह माँज लिया है। रोला उनका प्रिय छन्द है। इसके अतिरिक्त दोहा, चौपाई और सोरठा, आदि छन्दों में भी उन्होंने सफलता-पूर्वक रचना की है। कवित्त भी उन्होंने लिखे हैं, पर बहुत कम। उनके पद भी सुन्दर और सरस होते हैं। अपने पदों में उन्होंने अनेक छन्दों और अनेक गीत-खंडों का प्रयोग किया है। वह संगीत से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके समस्त पद राग-रागिनियों से संचालित हैं, पिंगल उनका आधार नहीं है। अधिकांश पदों पर संगीत की 'ध्रुपद' शैली की छाप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्ददास का कलापक्ष भी अत्यन्त पुष्ट है। इस दृष्टि से वह सूर से कुछ आगे हैं। कला के इस पग-पग पर अनुरोध के कारण ही जनता ने उन्हें 'जड़िया' कह रखा है।

नन्ददास की रचनाओं के इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में से थे। सूर उनके समकालीन थे। कहा जाता है कि वह सूर के शिष्य

सूर और नन्ददास

थे। भक्ति-भावना तथा काव्य-क्षेत्र में सूर ने नन्ददास का पथ-प्रदर्शन किया था। दोनों एक ही सम्प्रदाय में दीक्षित थे। वल्लभीय सम्प्रदाय में दोनों की आस्था थी। सूर

वल्लभाचार्य के शिष्य थे और नन्ददास वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ के। इस प्रकार दोनों पुष्टिमार्ग के अनुगामी थे। दोनों कृष्ण के भक्त और सगुण भक्ति में विश्वास करनेवाले थे। काव्य-रचना के लिए दोनों को भागवत से प्रेरणा मिली और दोनों ने स्वतंत्रता-पूर्वक उसका उपयोग किया, पर इतनी समता होने पर भी काव्य-क्षेत्र में दोनों ने दो मार्गों का अनुसरण किया। सूर कृष्ण के बाल-स्वभाव पर रीझे और नन्ददास गोपी-कृष्ण के प्रेमभाव पर। इस प्रकार यदि सूर कृष्ण के बाल-स्वभाव के चित्रण में बेजोड़ हैं तो नन्ददास गोपियों के प्रेम-वर्णन में। कथात्मक प्रवृत्ति सूर में नहीं है। इसलिए उनका काव्य गीतात्मक है। नन्ददास में कथात्मक प्रवृत्ति है इसलिए गीतों की रचना उन्होंने कम की है। उनके गीतों में न तो उतना चमत्कार है और उतना लीला-रस जितना सूर के पदों में हमें मिलता है। भक्ति-भावना के क्षेत्र में भी दोनों एक से नहीं है। सूर सखा-भाव के भक्त हैं और नन्ददास मधुर-भाव के। भक्ति-भावना के इस प्रकार के दृष्टिकोणों के अन्तर से उनके काव्य-क्षेत्रों की सीमा में भी अन्तर आ गया है। सूर का काव्य-क्षेत्र अधिक विकासोन्मुख है और इसीलिए उनकी रचनाएँ अधिक हैं। नन्ददास की काव्य-प्रतिभा एक सीमा के अन्तर्गत विहार करती हैं। इसलिए ग्रन्थों की प्रचुर संख्या होने पर भी उनका काव्य-साहित्य सीमित ही कहा जाता है। एक बात और है और वह यह कि नन्ददास अपने काव्य में अधिक सिद्धान्तवादी हैं। इसलिए उनका दर्शन-भाग काव्य और भक्ति के अंगों से अलग जा पड़ा है। फलस्वरूप हम उनके काव्य में भाव की गंभीरता तो पाते हैं, हृदय की तन्मयता नहीं पाते। इसके विपरीत सूरदास के काव्य में काव्यत्व गौण है, मुख्य है भक्ति और धर्म। अतः वह भक्ति-भाव द्वारा पहले हमें छूते हैं। फिर काव्य-छटा द्वारा। अपनी इसी मौलिक कला के बल पर उन्होंने इतनी सुन्दरता से वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का

अपने काव्य में निरूपण किया है कि हमें उनके दार्शनिक रूप का आभास भी नहीं होता।

पात्रों की दृष्टि से जब हम सूर और नन्ददास की रचनाओं पर विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि दोनों ने भ्रमगीत में उद्धव और गोपियों की अपने-अपने ढंग से कल्पना की है। नन्ददास के उद्धव बहुत कुछ भागवत के उद्धव से मिलते-जुलते हैं। उन्हें भी ज्ञान का गर्व है जो अन्त में स्खलित हो जाता है। वह तार्किक पंडित भी हैं। सूर के उद्धव इनसे कुछ भिन्न हैं। ज्ञान का गर्व तो उन्हें भी है, पर वह अधिक तार्किक नहीं है। गोपियाँ उन्हें बहुत बनाती हैं और उनका उपहास करती हैं। गोपियों का चरित्र-चित्रण दोनों कवियों ने अपने काव्यों में एक ही दृष्टिकोण से किया है, पर जहाँ सूर की गोपियाँ तार्किक उच्छृङ्खल हैं वहाँ नन्ददास की गोपियाँ भोली-भाली और सौम्य हैं। उनमें तार्किक बुद्धि भी अपेक्षाकृत अधिक है।

रसों के क्षेत्र में सूर नन्ददास से आगे हैं। सूर ने प्रायः सभी रसों को स्थान दिया है। नन्ददास शृंगार-भक्त होने के कारण अन्य रसों की ओर आकृष्ट नहीं हो सके। सूर की अलंकार की योजना भी विस्तृत है। छंदों के प्रयोग में नन्ददास सूर से आगे हैं। सूर ने अधिकांश गीतात्मक पदों को ही अपने काव्य में स्थान दिया है, नन्ददास ने रोला, दोहा, चौपाई आदि छन्दों में भी अधिकार-पूर्वक लिखा है। भाषा की दृष्टि से तो नन्ददास जड़िया प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् नन्ददास को जो स्थान मिला है वह उपयुक्त ही है।

—८—

रहीम खानखाना

जन्म सं० १६११ *मृत्यु सं० १६७४*

कविवर अब्दुल रहीमखाँ खानखाना का जन्म माघ सुदी १४ सं० १६११ को हुआ था। उनके पिता का नाम बैरमखाँ खानखाना था। बैरमखाँ अकबर के दरबार में रहते थे। उन्होंने ही बाल्यावस्था में अकबर का पालन-पोषण किया था, इसलिए अकबर उन्हें अपने पिता-तुल्य मानते थे। अकबर के सम्राट होने पर वह उनके अभिभावक हो गये, पर अधिक दिनों तक यह सम्बन्ध स्थिर न रह सका। वह अकबर के विद्रोहियों में सम्मिलित हो गये। जब अकबर को उनकी काली करतूतों का पता चला, तब उन्होंने बदला न लेकर, उन्हें हज करने के लिए मक्का भेज दिया। पर बीच ही में उनके शत्रु मुबारकखाँ ने उनका वध कर दिया। उस समय रहीम की अवस्था केवल चार वर्ष की थी। ऐसी दशा में उनके पालन-पोषण का भार अकबर को ही उठाना पड़ा।

जीवन-परिचय

रहीम प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। उन्होंने पहले फ़ारसी और अरबी साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् उन्होंने संस्कृत और हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में वह अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान हो गये। अकबर पर उनकी प्रतिभा और कुशाग्र बुद्धि का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अतः उन्होंने उन्हें मिरजाखाँ की उपाधि से सम्मानित किया और अपनी धाई-माँ की पुत्री से उनका विवाह करा दिया। इस सम्बन्ध से राजघराने से उनकी घनिष्टता बढ़ गयी। अकबर उन्हें बहुत मानते थे। इसलिए वह शीघ्र ही उन्नति करके अकबर के प्रधान सेनापति, मन्त्री और दरबार के नवरत्न हो गये। इन पदों पर उन्होंने

बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया। अकबर उनकी कार्यपटुता, बुद्धिमत्ता और कार्य-तत्परता से इतने प्रभावित थे कि उन्हें बड़े से बड़े पद पर प्रतिष्ठित करने में वह कभी हिचकिचाते न थे। राजकुमार सलीम की शिक्षा का भार भी उन्हीं को सौंप गया था और वह उनके शिक्षक तथा अभिभावक बनाये गये थे।

रहीम का स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा उदार था। उच्च पदों पर रहते हुए भी उनमें लेशमात्र गर्व नहीं था। उनकी सभा विद्वानों और पंडितों से भरी रहती थी। वह बड़े दानी, परोपकारी, सज्जन और सहृदय थे। कहा जाता है कि उन्होंने अपने जीवन भर कभी क्रोध नहीं किया। मुसलमान होते हुए भी वह कृष्ण के अनन्य भक्त और उपासक थे। हिन्दी काव्य के प्रति उनके मोह का कारण उनकी कृष्ण-भक्ति ही थी। श्रीकृष्ण के प्रति उनके काव्य में उनके विशुद्ध प्रेम की बड़ी ही मनोहर झलक दिखाई देती है। उदारता तो उनमें इतनी थी कि वर्ष में एक बार एक निश्चित तिथि पर वह अपने घर की सारी सम्पत्ति दान कर दिया करते थे। उन्हें संसार का बड़ा गहरा अनुभव था और उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। महाराणा प्रताप पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। एक बार जब अकबर और महाराणा प्रतापसिंह की सेनाओं में घोर युद्ध हो रहा था तब रहीम के घर की बेगमें महाराणा के सैनिकों के हाथों पड़ गयीं। महाराणा ने यह जानकर उन्हें बड़े सम्मानपूर्वक खानखाना के पास भिजवा दिया। इस सौजन्य और उदार व्यवहार से महाराणा पर बड़ी अगाध श्रद्धा हो गयी थी। कहा जाता है कि इस प्रत्युपकार के फलस्वरूप खानखाना ने एक बार उनकी बड़ी सहायता की थी। उनके सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

[१] अकबर के दरबार में गंग बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। रहीम उनका बहुत आदर करते थे। एक दिन गंग ने रहीम की प्रशंसा में यह छप्पय सुनाया :—

चकित भँवर रहिगयो गमन नहिँ करत कमल-वन।
अहि-फनि मनि नहिँ लेत तेज नहिँ बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क-चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भनि, अमित तेज रवि रथ खस्यो।
खानान खाँ बैरम-सुवन जा दिन क्रोध करि तंग कस्यो॥

कहते हैं कि इस छप्पय को सुनकर रहीम इतने प्रसन्न हुए कि उसी समय उन्होंने ३६ लाख की एक हुंडी, जो ख़जाने में जमा होने के लिए आई थी, उठाकर गंग को दे दी। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि उन्होंने मुल्ला शकेबी को मीरजानी पर विजय प्राप्त करने के समय एक मुसद्दस के लिए दो हजार अशर्फियाँ पुरस्कार-स्वरूप दी थीं।

[२] यह भी प्रवाद है कि गोस्वामी तुलसीदास से भी रहीम का परिचय था। कहते हैं कि एक बार गोस्वामीजी ने एक ब्राह्मण को, जिसे अपनी कन्या का विवाह करने के लिए धन की विशेष आवश्यकता थी, उनके पास भेजा और उसे उन्हें देने के लिए एक दोहे का अर्धभाग दे दिया। वह अर्ध भाग यह था :—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

रहीम ने उस ब्राह्मण की बड़ी आवभगत की और उसे बहुत धन देकर उपर्युक्त दोहे की इस प्रकार पूर्ति करके गोस्वामीजी के पास भेज दिया :—

गोद लिए 'हुलसी' फिरै तुलसी सो सुत होय॥

[३] एक बार रहीम का एक नौकर छुट्टी लेकर घर गया। घर में उसकी नववधू का पहले पहल आगमन हुआ था। छुट्टी समाप्त होने पर नववधू ने घर में कुछ दिन और रहने का तीव्र आग्रह किया, किन्तु नौकरी छूट जाने के भय से उसने उसके आग्रह को स्वीकार नहीं

किया। वह स्त्री विदुषी थी। अतः उसने एक बरवै लिखकर और लिफ़ाफे में बन्द करके अपने पति को दिया और कहा कि इसे अपने स्वामी को दे देना। रहीम ने जब लिफाफा खोला तब उन्हें उस पत्र में यह लिखा हुआ मिला :—

प्रेम-प्रीति को बिरवा, चल्यौ लगाय।
सींचन की सुधि लीज्यौ, मुरझि न जाय॥

रहीम दूरदर्शी थे। उन्होंने यह बरवै पढ़कर नारी-हृदय की भावना का रहस्य समझ लिया। अतः उन्होंने अपनी उदार प्रकृति के अनुसार अपने उक्त नौकर को एक लम्बी छुट्टी दे दी और उसकी स्त्री को आभूषण और वस्त्र देकर सम्मानित किया। यह छन्द उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने इसी छन्द में बरवै नायिकाभेद की रचना की। यह नायिकाभेद शृङ्गार रस की अमूल्य निधि है।

[४] एक बार किसी कारण से मुगल सम्राट जहाँगीर के प्रति विरोध भावना प्रगट करने के कारण रहीम बन्दी हो गये। बन्दी-गृह से मुक्त होने के पश्चात् उन्हें बड़े-बड़े आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। अन्त में दुखी होकर वह चित्रकूट चले गये। पर इस दीनावस्था में भी याचक उन्हें घेरे रहते थे। इससे उन्हें बड़ा कष्ट होता था। अतः उन्होंने याचकों से कहा :—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिँ।
यारो यारी छोड़ दो, वे रहीम अब नाहिँ॥

इतना कहने पर भी याचकों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन एक याचक ने उनका यह दोहा पढ़कर उन्हें सुनाया :—

रहिमन दानि दरिद्रतर, तऊ जाँचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुआँ खनावत लोग॥

यह दोहा सुनकर उन्होंने रीवाँ नरेश के पास यह दोहा लिखकर भेजा :—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस ।
जापर विपदा परत है, सो आवत यहि देस ॥

कहते हैं कि इस दोहे पर मुग्ध होकर रीवाँ-नरेश ने उनके पास एक लाख रुपया भेज दिया । रहीम ने यह सारा धन याचकों में बाँट दिया ।

[५] दरिद्रावस्था से दुखी होकर एक बार रहीम ने एक भुजवे के यहाँ भाड़ झोंकने की नौकरी कर ली । एक दिन जब वे भाड़ झोंक रहे थे तब अकस्मात रीवाँ-नरेश उधर से आ निकले । उन्होंने रहीम को पहचानकर कहा :—

जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस ।

रहीम ने रीवाँ-नरेश को पहचानकर यह उत्तर दिया :—

रहिमान उतरे पार, भार झोंकि सब भार में ॥

अन्त की इन किंवदन्तियों से यह स्पष्ट है कि जहाँगीर के राजत्वकाल में अपनी विद्रोही भावना के कारण रहीम को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा । पर अपनी इस हीनावस्था में भी उन्होंने किसी की दासता स्वीकार नहीं की । वह अपने जीवन के अन्त तक उदार, सरस और कोमल बने रहे । संवत् १६८४ के लगभग उनकी जीवन-यात्रा का अन्त हुआ ।

रहीम की रचनाएँ

रहीम साहित्य-प्रेमी थे । अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के वह अपने समय के बड़े विद्वान थे । अरबी के अतिरिक्त फारसी, संस्कृत और हिन्दी—इन तीन भाषाओं में सफलता-पूर्वक वह कविता करते थे । उनकी कुछ रचनाएँ अप्राप्य हैं पर जो भी रचनाएँ हमें अब तक उपलब्ध हो सकी हैं वह उनको एक प्रतिभाशाली कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं । उन्होंने निम्नलिखित पुस्तकों की रचना की है :—

१. वाकआत बाबरी का फारसी अनुवाद—मूल पुस्तक तुर्की भाषा

में है। रहीम ने इस भाषा से बाबर के जीवन-चरित्र का अनुवाद फारसी भाषा में बड़ी सुन्दरता से किया है।

२. दीवाने फारसी—इसमें रहीम की फारसी भाषा में लिखी हुई कविताओं का संग्रह है।

३. खेट कौतुक जातकम्—यह ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत तथा फारसी शब्दों का मेल बड़े अनोखे ढंग से किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा पर उनका पूरा अधिकार था और वह ज्योतिष के पंडित थे।

४. बरवै नायिकाभेद—इसमें ११४ छन्द हैं। इन छन्दों में रहीम ने लक्षण देकर केवल नायिका का उदाहरण दिया है। इनकी भाषा पूर्वी अवधी है।

५. मदनाष्टक—यह खड़ीबोली का काव्य है।

६. रासपंचाध्यायी—यह ग्रन्थ अप्राप्य है। भक्तमाल की टीका में जो दो पद पाये जाते हैं वे रासपंचाध्यायी के ही कहे जाते हैं।

७. शृंगार सोरठा—श्री शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है पर यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है।

८. रहीम-सतसई—लोगों का कहना है कि रहीम ने एक सतसई भी लिखी थी, पर अब तक उसका पता नहीं चला। उनके जो दोहे अब तक मिले हैं वे उसी सतसई के बताये जाते हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त रहीम की स्फुट कविताएँ भी मिलती हैं। इन कविताओं का संग्रह भी अन्य पुस्तकों की भाँति अप्राप्य है। उनकी अब तक जो कविताएँ मिली हैं उन्हीं के संग्रह यत्रतत्र देखने में आते हैं।

रहीम हिन्दी-साहित्य की दिव्य विभूति थे। हिन्दी में उनकी कविता को इसलिए महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ कि वह मुसलमान थे,

वरन् इसलिए कि साहित्यिक दृष्टि से वह हमारे गौरव की वस्तु हैं। उनकी वाणी में जो माधुर्य और मार्दव है वह हिन्दी के बहुत थोड़े ही कवियों की रचनाओं में पाया जाता है।

रहीम की काव्य-साधना

उन्होंने हिन्दी में ही नहीं फारसी भाषा में बड़ी सरस और भावपूर्ण कविता की है। हिन्दी में वह अपने दोहों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके दोहे बेजोड़ होते हैं। उनमें नीति, ज्ञान, शृंगार और प्रेम का इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि मानव-हृदय पर उनका बहुत गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ता है। दोहों में भाव व्यक्त करना कितना कठिन है, इसे उन्हीं की उक्तियों में देखिए :—

दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोड़े आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमिट कूदि कढ़ि जाहिं॥

रहीम के इन दोहों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने दोहों में जो भाव भरे हैं उनमें ही उनकी काव्य-कला का विकास हुआ है। अतः रहीम अपने दोहों में ही सार्थक हैं।

रहीम के दोहों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, नीति, सतसंग, शृंगार, प्रेम, परिहास, स्वात्माभिमान आदि सभी विषयों पर उन्होंने सफलतापूर्वक अपने भावों को दोहा-बद्ध किया है। उन्होंने अपने दोहों में दार्शनिक विचारों का बहुत कम स्थान दिया है, पर थोड़े में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे उनके पाण्डित्य और गंभीर दार्शनिक चिन्तन का यथेष्ट आभास मिल जाता है। एक उदाहरण लीजिए :—

बिन्दु में सिंधु समान, को कासो अचरज कहे।
हेरन हार हिरान, रहिमान आपुहि आप में॥

रहीम के भक्ति सम्बन्धी दोहे अधिक हैं। यद्यपि वह मुसलमान थे और इस्लामी सभ्यता में पले थे तथापि उनकी भगवान् कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति थी। उदाहरण के लिए निम्न दोहे लीजिए :—

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर, लवार।
जो पत राखन हार है, माखन चाखनहार॥
तू रहीम चित आपनो, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि वासर लाग्यो रहे, कृष्ण चन्द्र की ओर॥

कृष्ण के प्रति उनकी जैसी भक्ति-भावना है वैसी ही भक्ति-भावना राम के प्रति इन दोहों में देखिए:—

रहिमन धोखे भाव से, मुख ते निकसत राम।
पावत पूरन परम गति, कामादिक के धाम॥
गह सरनागत राम कै, भवसागर कै नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव॥

इन उदाहरणों से यह यह स्पष्ट है कि रहीम राम और कृष्ण दोनों के भक्त थे, पर कृष्ण के प्रति उनका मोह अधिक था। कृष्ण उनके उपास्य देव थे। वह भक्ति-माग के पोषक थे। मुसलमान होते हुए भी वह सगुणोपासना के समर्थक थे। भक्ति के सम्बन्ध में उनका कहना था:—

रहिमन मनहिं लगाइ कै देखि लेहु किन कोय।
नर को वस करिवो कहा, नारायण वस होय॥

सगुणोपासना में उनका विश्वास इस दोहे से स्पष्ट होता है:—

अजन देहु तो किरकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिन में हरि वसो, रहिमन वलि-वलि जाय॥

इस दोहे में अंजन से रहीम का तात्पर्य योगादि क्रियाओं से और सुरमा से मुसलमानी रीति के अनुसार ईश्वराधना से है। हरि से उनका आशय हरियाली और श्रीकृष्ण से है। इस प्रकार उनके इस एक दोहे से उनके सगुणोपासना सम्बन्धी रुचि का आभास मिल जाता है। भक्ति के इन दोहों में उनके हृदय और मस्तिष्क का योग तो है ही, पर वास्तव में वह अपने नीति के दोहों के लिए ही हिन्दी-भाषा-भाषी जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। अपने ऐसे दोहों में वह

एक उपदेशक तथा शिक्षक के रूप में हमारे सामने आते हैं। जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में पड़कर उन्होंने संसार का जितना अनुभव प्राप्त किया उसी के आधार पर उन्होंने अपनी नीति का प्रासाद खड़ा किया। इस प्रासाद में जीवन की सफलता एवं उपयोगिता के लिए उन्होंने सरल और सुबोध शब्दों में, जितनी सामग्री का संकलन किया है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके नीति के पद इतने सरस, जीवनोपयोगी और पथ-निर्देशक हैं कि लोग अवसर पड़ने पर उनके दोहों को लोकोक्तियों की भाँति प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार श्रृंगार आदि सम्बन्धी भाव अत्यन्त मार्मिक और चुटीले हुए हैं। इस दोहे से उनकी श्रृंगार-प्रियता का आनन्द लीजिए :—

मनसिज माली कै उपज, रहिमन कही न जाय।
फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम उर माँय॥

रहीम उदार प्रकृति के कवि थे। इसलिए उनकी रचनाओं में सर्वत्र उदारता ही उदारता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने स्थान-स्थान पर पौराणिक कथा-प्रसंगों-द्वारा जहाँ अपने भावों का स्पष्टीकरण किया है वहाँ अप्रत्यक्ष रूप से यह भी बताने की चेष्टा की है कि उन्हें हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं का असाधारण ज्ञान था। उनका 'बरवै नायिकाभेद' तो हिन्दी की अमूल्य निधि है। इसमें प्रायः सभी पद्य मनोहर और चित्ताकर्षक हैं। उनके शब्दों में उनके बरवै का महत्त्व देखिए :—

बेधक अनियारे बड़े, यह बरवै के बान।
सुनत जाहि चित चाव पै, समुझै चतुर सुजान॥

रहीम ने अपने बरवै के सम्बन्ध में अपने शब्दों में जो कुछ कहा है उस में तिलमात्र भी अत्युक्ति नहीं है। सरल और चलती हुई भाषा में उन्होंने भिन्न-भिन्न नायिकाओं के सुन्दर, सरस और प्रभावपूर्ण उदाहरण दिये हैं। इन बरवै से उनकी श्रृङ्गार-प्रियता का आभास लीजिए :—

औचक आय जोबनवाँ, मोहिं दुख दीन।
छुटिगो संग गोइयवाँ, नहिं भल कीन॥

× ×

मोंहि वर जोग कन्हैया, लागउँ पाय।
तुहूँ कुल-पूज देवतवा, होहु सहाय॥

रहीम की इन पंक्तियों से शृङ्गार छलका पड़ता है। इनमें तन्मयता है, सरसता है, वेदना है और नारी-हृदय के मनोभावों का मनोहर चित्र है। इन चित्रों का अंकन एक कुशल कवि का ही काम है। रहीम में हृदय को टटोलने की अद्भुत क्षमता है। प्रत्यक्ष जीवन के कवि होने के कारण उनकी रचनाओं में जीवन का माधुर्य बिखरा पड़ा है। इसका एक कारण है और वह यह कि उनकी दृष्टि संसार के सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल वस्तु में प्रवेश कर गयी थी। सभी प्रकार के मनुष्यों से उनका परिचय था और मानव-जीवन के प्रति उनकी उदार व्यापक दृष्टि थी। वह वस्तुतः जीवन और जगत् के कवि थे। इसीलिए हमें उनकी रचनाओं में न तो कल्पना की उड़ान मिलती है और न भावों का अन्तर्द्वन्द। सीधे-सादे शब्दों में उनके जीवनोपयोगी विचार ही उनकी रचनाओं में व्यक्त हुए हैं।

रहीम को अलंकारों का भी अच्छा ज्ञान था, पर उनका प्रयोग उन्होंने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया। उनकी रचनाओं में अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण, उपमा, दृष्टान्त और उत्प्रेक्षा के वह उस्ताद थे। इन अलंकारों पर उनका पूर्ण अधिकार था। इनके अतिरिक्त श्लेष और यमक भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। इन अलंकारों के प्रयोग में उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। रसों में शृंगार रस उनकी रचनाओं में प्रधान है।

रस-योजना की भाँति रहीम की छन्द-योजना भी सीमित है। दोहा, सोरठा और बरवै के अतिरिक्त उन्होंने छप्पय, कवित्त और सवैया में भी रचना की है। उनके पद भी मिलते हैं, पर बहुत कम।

उनके दोहे निर्दोष, और सुव्यवस्थित होते हैं और इस कला में वह प्रवीण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहीम की काव्य-साधना अत्यन्त सफल है। यद्यपि उनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि अब तक की खोज से जो कुछ प्राप्त हो सका है उससे उनकी सहृदयता और काव्य-मर्मज्ञता का अनुमान लगाया जा सकता है।

रहीम की भाषा और शैली

रहीम की भाषा मुख्यतः अवधी और ब्रजभाषा है। उन्होंने इन दोनों भाषाओं में कविता की है। फारसी भाषा का अत्यधिक ज्ञान होने पर भी उन्होंने इन भाषाओं की पवित्रता पर आँच नहीं आने दी है। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने बड़ी ही सुन्दरता से किया है। बरवै नायिकाभेद लिखकर उन्होंने पूर्वी अवधी पर अपने भाषा-सम्बन्धी अधिकार की मुद्रा लगाई है। अपने नीति के चुटीले दोहों में भी उन्होंने अवधी का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। खड़ी बोली का प्राचीन रूप भी हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। एक उदाहरण लीजिए :—

कवित लखित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चंपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट विच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बनअल बेला यार मेरा अकेला॥

इन भाषाओं के अतिरिक्त रहीम तुर्की, फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के भी पूर्ण ज्ञाता थे। संस्कृत और फारसी में भी उन्होंने रचना की थी। उनका शब्द-ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत था। अतः अपने दोहों के लिए वह उपयुक्त शब्द बड़ी आसानी से खोज लेते थे। केशव की भाँति उन्हें अपने शब्दों के साथ कसरत नहीं करनी पड़ती थी। इसलिए उनकी रचनाओं में उनकी शब्द-योजना सरस, भावनानुकूल, स्वाभाविक, प्रसाद-गुण-युक्त और मार्मिक है।

उनके शब्द-विधान और वाक्य-विन्यास में कहीं भी शिथिलता और शुष्कता नहीं है। उनकी अभिव्यंजना-शैली भी अत्यन्त सरस और सुन्दर है। कल्पना की ऊँची उड़ान में आकाश-पाताल दोनों को एक कर देनेवाले कवियों की भाँति उन्होंने अपनी भाषा को असंयत और दुर्बोध नहीं होने दिया है। उन्होंने अपने भावों तथा वर्ण्य विषय को सरस ढंग से थोड़े शब्दों में व्यक्त किया है। उनकी शैली दोहा, सोरठा और बरवै छन्दों की है। इन छन्दों में उन्होंने मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

रहीम और कबीर

रहीम और कबीर दोनों हिन्दी साहित्य के दोहाकार हैं। दोनों अपने-अपने दोहों में शिक्षक और उपदेशक के रूप में हमारे सामने आते हैं। दोनों हिन्दी के मुसलमान कवि हैं और हिन्दू-धर्म की दार्शनिक चेतना से समान रूप से प्रभावित हैं। पर दोनों के दृष्टिकोणों में महान् अन्तर है। कबीर ज्ञानी सन्त हैं, धर्मगुरु हैं, एक पंथ के संचालक हैं, सुधारक और आलोचक हैं। वह न कोरे मुसलमान हैं, न कोरे हिन्दू। उन्होंने दोनों धर्मों की विशेषताओं का अपने सन्त-जीवन में समन्वय किया है। इसलिए जहाँ उनमें सुधार की भावना है, वहाँ वह परिस्थिति-विशेष के कारण धार्मिक जीवन के कटु आलोचक भी हो गये हैं। उनके दोहे उनकी आलोचना से परिपूर्ण हैं। उनमें उपदेश के साथ-साथ उपालंभ, व्यंग और फटकार भी मिलती है। निर्गुणोपासना में विश्वास होने के कारण उनके विचारों में शुष्कता और नीरसता भी है। इसके विपरीत रहीम न तो सन्त हैं और न पूर्ण भक्त। भक्त वह इसी अर्थ में कहे जा सकते हैं कि सगुणोपासना में उनका विश्वास है और श्रीकृष्ण और राम के प्रति उनके हृदय में बड़ी श्रद्धा है। वह साहित्य-प्रेमी और कवि हैं। कबीर पहले सन्त हैं, तत्पश्चात् कवि। इसलिए रहीम के दोहों में भावों और विचारों की जैसे सरसता और उठान है वैसी कबीर के दोहों में नहीं है।

कबीर अपने दोहों द्वारा जनता में अपने दार्शनिक विचारों का, अपने मत के सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे। ललित साहित्य का भांडार भरने के लिए उन्होंने दोहों की रचना नहीं की। रहीम ने अपने दोहों द्वारा हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ाया। वह धर्म के नहीं, दैनिक जीवन के और उस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थितियों के कवि थे। इसलिए कबीर और रहीम अपने-अपने दोहों में हमें पृथक दिखाई पड़ते हैं। कबीर में धार्मिक तत्त्वों का खंडन-मंडन जितनी मात्रा में मिलता है उतनी मात्रा में जीवन-निर्माण की कला नहीं है। वह हमारा मस्तिष्क तो मथते हैं, पर हृदय को प्रभावित नहीं करते। रहीम में जीवन-निर्माण की कला प्रचुर मात्रा में है। इसलिए उनके कथन का हमारे हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है।

रहीम और कबीर भाषा के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। रहीम की भाषा कहीं अवधी और ब्रज है, कबीर की भाषा में कई भाषाओं तथा बोलियों का मेल है। इसलिए उनकी भाषा में रहीम की भाषा जैसे सरसता और सादगी नहीं है। उनमें अक्खड़पन और शुष्कता है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों के मेल से उनकी भाषा का माधुर्य और प्रवाह नष्ट हो गया है। इतना होते हुए भी दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं और दोनों हिन्दी-साहित्य की अमर विभूति हैं।

रहीम और तुलसी

हिन्दी में तुलसी ने भी दोहे लिखे हैं। रहीम और तुलसी दोनों समकालीन कवि थे। दोनों का सगुणोपासना में विश्वास था और दोनों जीवन-निर्माण के कवि थे। पर रहीम की अपेक्षा तुलसी का काव्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। इसलिए जीवन निर्माण की कला का प्रदर्शन के लिए तुलसी को जितना अवसर मिला उतना रहीम को नहीं मिल सका। इसके अतिरिक्त तुलसी में रहीम की अपेक्षा काव्य-प्रतिभा भी अधिक है। इसलिए भक्ति-भावना और दार्शनिक तथा नैतिक विचारों

का जैसा सुन्दर चित्रण उनके दोहों में मिलता है वैसा न तो कबीर में है और न रहीम में। रहीम में भावों की सादगी है और तुलसी में भावों की गम्भीरता। इसी गंभीरता के कारण तुलसी के दोहे जनता में उतने लोकप्रिय नहीं हो सके जितने कि रहीम के दोहे। रहीम के प्रायः सभी दोहे जीवन की परिस्थितियों के व्यंजक हैं और तुलसी के अधिकांश दोहे भक्ति-भावना के दार्शनिक तत्त्वों के चिन्तन से ओत-प्रोत हैं। नीति और सत्संग आदि के दोहों में दोनों को समान रूप से सफलता मिली है। पर इन विषयों में भी तुलसी की गति रहीम की अपेक्षा अधिक है। तुलसी ने जीवन के सभी पहलुओं पर जैसा प्रकाश डाला है वैसा प्रकाश डालने का प्रयत्न यद्यपि रहीम ने भी किया है, तथापि वह अपने इस प्रयत्न में तुलसी से बहुत पीछे रह गये हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी की रचनाओं की समता में रहीम की रचनाएँ केवल तुकबन्दियाँ हैं। एक मुसलमान होते हुए भी उन्होंने जिस उदारता से हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य और हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों को अपनाकर अपने जिन भावों तथा विचारों को अपनी रुचि के छन्दों में व्यक्त किया उनमें काव्य-कला का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण हुआ और हम उन्हें हिन्दी की अमूल्य धरोहर समझते हैं।

भाषा की दृष्टि से तुलसी और रहीम दोनों अपनी सरस और प्रवाहपूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। दोनों का ब्रज और अवधी पर पूर्ण अधिकार है। दोनों की भाषा में माधुर्य और प्रसादगुण की अधिकता है। दोनों ने अपनी शब्द-शक्ति द्वारा अपने मनोभावों को अपने पाठकों के सामने भलीभाँति रखने में सफलता प्राप्त की है। पर इतनी समानता होते हुए भी तुलसी की भाषा रहीम की भाषा की अपेक्षा अधिक संस्कृतगर्भित और साहित्यिक है।

अब रहीम के दोहों की बिहारी के दोहों से तुलना कीजिए। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दोनों के दोहों का महत्वपूर्ण स्थान है।

नीति और भक्ति, शृंगार और प्रेम के दोहे दोनों ने लिखे हैं, पर दोनों की रचनाओं में अन्तर है। बिहारी हिन्दू थे। हिन्दुओं के संपर्क में रहकर उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की वह प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। रहीम मुसलमान थे। मुसलमानों के बीच में

रहीम और बिहारी

रहकर उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की उसका मूल्य उस समय के साम्प्रदायिक वातावरण को ध्यान में रखते हुए कम नहीं है। बिहारी के दोहों में साहित्य-शास्त्र की प्रचुर सामग्री है; कल्पना की उड़ान है और भावों की उछल-कूद है। रहीम के काव्य में जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में यदि कहें तो यों कह सकते हैं कि रहीम ने अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना प्राप्त की है, उसी की व्यंजना अपने दोहों में की है। तुलसी के वचनों के समान ही रहीम के वचन भी हिन्दी भाषा-भूभाग में सर्वसाधारण के मुख पर रहते हैं और अवसर पड़ने पर उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। बिहारी को अपने दोहों द्वारा यह लोकप्रियता नहीं मिली। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-प्रतिभा, भाषा पर अधिकार और कल्पना की सुन्दर समाहार-शक्ति में रहीम उनकी समता नहीं कर सकते, पर प्रचार और जीवन-निर्माण की कला की दृष्टि से रहीम के दोहों का जो महत्त्व है वह बिहारी के दोहों को नसीब नहीं हो सका। आपत्ति की घड़ियों में, किसी व्यक्ति को कुसंगति में पड़ा हुआ देखकर, दुःख के दिनों में किसी मित्र की उदासीनता पर, किसी व्यक्ति के स्वार्थ-चिंतन पर हमें रहीम ही याद आते हैं, बिहारी नहीं। बिहारी हमारे मनोभावों को गुदगुदा सकते हैं; हमारी कल्पनाओं को उत्तेजित कर सकते हैं; हमारी शृङ्गारिक भावनाओं को तीव्रतर कर सकते हैं, पर रहीम की भाँति हमारी समस्याओं का सुझाव हमारे सामने उपस्थित नहीं कर सकते। बिहारी में साहित्यिक कला है, और रहीम में लोक-जीवन-निर्माण की कला। उनके दृष्टिकोणों का यह अन्तर

उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। अब भावसाम्य के उदाहरण लीजिए। रहीम कहते हैं:—

नित 'रहीम' चित आपुनों कीजै चारु चकोर।
निसि वासर लागो रहै, कृष्ण चन्द्र की ओर॥

बिहारी ने इसी भाव को इस प्रकार कहा है:—

मन मोहन सों मोह करु, तू घनस्याम निहारि।
कुंज-बिहारी सों विहरु, गिरधारी उर धारि॥

इसी प्रकार रहीम कहते हैं:—

जो रहीम विधि बड़ किए, को कहि दूषण काढ़ि।
चन्द दूबरो कूबरो तऊ नखत तें बाढ़ि॥

बिहारी कहते हैं:—

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी ये भूल।
दीनै दई गुलाब को, इन डारन वै फूल॥

भाषा की दृष्टि से जहाँ रहीम ब्रज और अवधी दोनों पर अपना समान अधिकार रखते हैं वहाँ बिहारी केवल ब्रजभाषा के पूर्ण पंडित हैं। बिहारी की भाषा अधिक साहित्यिक अवश्य है। फारसी के शब्दों का प्रयोग दोनों की रचनाओं में एक सीमा के भीतर ही हुआ है।

इस प्रकार रहीम अन्य कवियों की तुलना में अपनी सीमा के भीतर महान् हैं। मुगल सम्राट अकबर के प्रधान सेनापति तथा मंत्री होते हुए भी उन्होंने हिन्दी की सेवा के लिए समय निकालकर हिन्दी साहित्य का जितना उपकार किया वह उनकी उदारता और साहित्यिक रुचि का परिचायक है। और हमारा तो विश्वास है कि हिन्दी साहित्य जब तक जीवित रहेगा तब तक रहीम की रचनाएँ प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी का पथ-प्रदर्शन करती रहेंगी।

—६—

आचार्य केशवदास

जन्म सं० १६१२ मृत्यु सं० १६७६

केशवदास का जन्म ओड़छा नगर में सं० १६१२ के लगभग हुआ था। उनके पिता पं० काशीनाथ सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका वंश पंडितों का वंश था और उसका ओड़छा-राजवंश में अत्यधिक मान था। केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र राजा रुद्रप्रताप के दरबार में पुराणवृत्ति पर नियुक्त थे और उनके पिता काशीनाथ मिश्र राजा रुद्रप्रताप के उत्तराधिकारी राजा मधुकरशाह के दरबार के एक रत्न थे। मधुकरशाह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र रामशाह गद्दी पर बैठे, परन्तु उनमें अधिक कार्य-कुशलता नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने भाई इन्द्रजीत को सारा राज-काज सौंप दिया। इन्द्रजीत ने आचार्य केशवदास को अपना गुरु माना और भेंट में उन्हें २१ गाँव दिये। राजा रामशाह भी उन्हें अपना मित्र मानते थे। इस प्रकार केशवदास पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों समान रूप से प्रसन्न थीं। केशवदास के कुल में सभी लोग पूर्ण विद्वान थे। उनके किसी पूर्वज ने प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रंथ 'भावप्रकाश' की रचना की थी। उनके पिता प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ 'शीघ्रबोध' के रचयिता थे। अपने कुल के पाण्डित्य का केशवदास पर भी प्रभाव पड़ा। वह भी अपने समय के संस्कृत साहित्य के अद्वितीय विद्वान थे, पर उनका युग संस्कृत साहित्य के मान का युग नहीं था। वह था हिन्दी भाषा का उदय-काल। इसलिए केशव ने समय की रुचि पहचानकर अपने कुल की परम्परा के विरुद्ध हिन्दी को अपनाया।

जीवन-परिचय

केशवदास बड़े दृढ़-चरित्र, स्वाभिमानी, विद्वान और निस्पृह ब्राह्मण थे। उन्हें अपनी जाति का गौरव अत्यन्त अभीष्ट था।

सुसम्पन्न पंडित-कुल में जन्म लेने के कारण उनमें धन-लोलुपता तो थी ही नहीं। इन्द्रजीत की उन पर श्रद्धा थी, बीरबल उन्हें बहुत मानते थे। वह चाहते तो इन दोनों व्यक्तियों से बहुत-कुछ ऐंठ सकते थे, परन्तु उन्होंने उनकी इच्छा प्रकट करने पर भी उनके सामने कभी हाथ नहीं फैलाया। वह दरबारी कवि थे, पर दरबारीपन उनमें नहीं था। दरबार के शिष्टाचार और राजनीति के दाव-पेंचों से वह भलीभाँति परिचित थे। वह वाक्पटु भी थे। वह राजनीतिक संकट उपस्थित होने पर इन्द्रजीत तथा राजा रामशाह को अपनी अमूल्य मंत्रणा भी प्रदान किया करते थे। एक बार उन्होंने इन्द्रजीत को तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर के कर से चिन्ता-मुक्त कराया था।

केशवदास को राममचन्द्र का इष्ट था। वह राम के भक्त थे। पर उनकी भक्ति तुलसी की भक्ति नहीं थी। गार्हस्थ्य जीवन से उन्हें प्रेम था। वह राजदरबार में बड़े ठाट-बाट से रहते थे। वह बड़े रसिक भी थे। यह रसिकता उनमें वृद्धावस्था तक बनी रही। राजा की मृत्यु के पश्चात् वह वीरसिंह के राज-कवि रहे। वीरसिंह की प्रशंसा में उन्होंने 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा जहाँगीर के गौरव-गान में 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' की रचना की। उनका देहावसान सं० १६७६ के लगभग हुआ। कहा जाता है कि मरने पर उन्हें प्रेत-योनि मिली थी। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने तुलसीदास के आदेशानुसार अपने ग्रन्थ रामचन्द्रिका का २१ बार पारायण किया था।

केशव की रचनाएँ

केशवदास ने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से अब तक केवल नौ का पता चलता है जो इस प्रकार हैं—१. रामचन्द्रिका २ कवि-प्रिया, ३. रसिक-प्रिया, ४. विज्ञान गीता, ५. रतनबावनी, ६. वीरसिंहदेव-चरित ७. जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, ८. नखशिख और ९. रामअलंकृतमंजरी। इनमें से रामचन्द्रिका उनका अत्यंत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें राम-कथा का सविस्तर वर्णन है। ३९ अध्याय हैं। रामचरितमानस के बाद राम-

कथा-सम्बन्धी हिन्दी काव्य-साहित्य में इसी ग्रंथ का स्थान है। स्वप्न में वाल्मीकि का आदेश पाकर केशवदास ने इसकी रचना की है। इसलिए उनके इस महाकाव्य में राम का नर-रूप में ही चित्रण हुआ है। इसकी छन्द-योजना भी रामचरितमानस से भिन्न है। इसमें अंलकारों का इतना बाहुल्य है कि यह उदाहरण-ग्रंथ सा बन गया है।

केशव की काव्य-साधना

केशवदास चमत्कारवादी कवि हैं। वह अपनी कला में प्रवीण हैं। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी कवि होने के कारण उनका वाग-वैदग्ध ऊँचे दर्जे का है। उनकी वस्तु-व्यंजनाएँ भी खरी हैं। उनकी कल्पनाओं में मस्तिष्क का योग अधिक है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि उनका ध्यान जितना पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर था उतना काव्य-रचना के विकास की ओर नहीं था। इसीलिए उनकी रचनाओं में रागात्मक तत्त्व का अभाव है, उनकी व्यंजनाओं में शुष्कता है, उनकी कल्पनाओं में हृदय-हीनता है, उनकी प्रवृत्तियों में कठोरता है। उनकी कविता हृदय को नहीं छूती, मस्तिष्क को प्रभावित करती है। यही कारण है कि उनके आलोचक उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहते हैं।

केशव वर्णन-प्रधान कवि हैं। उनकी रचनाओं में संसार के बाह्य रूप का चित्रण अच्छा हुआ है, परन्तु वह भी दरबार ही तक सीमित है। जीवन की सामान्य समस्याएँ, दाम्पत्य-सम्बन्ध, वात्सल्य, प्रेम आदि की संवेदनाएँ उनकी रचनाओं में चित्रित नहीं हुई हैं। जीवन के कोमल पक्ष का उनमें अभाव-सा है। उनका प्रकृति-वर्णन उक्ति-चमत्कार पर आश्रित है। उनमें कवि-कर्म का निर्वाह मात्र है। प्रकृति के प्रति उनका अनुराग नहीं जान पड़ता, उनकी रमणीयता में उनका मन निमग्न नहीं होता। उनका सरयू और गोदावरी नदी का वर्णन एक-सा है, समुद्र का वर्णन करते समय वह ब्रह्मज्ञान की ओर चले जाते हैं; सूर्योदय के वर्णन में वह शृंगार और वीभत्स का एक साथ

वर्णन करते हैं; षट् ऋतुओं के वर्णन में उपमा की ओर उनका ध्यान अधिक रहता है, प्रत्यक्ष प्रकृति की ओर कम। पाण्डित्य-प्रदर्शन का लोभ उनमें इतना अधिक है कि वह ऐसे अवसरों पर भी देश और काल की चिन्ता नहीं करते। शाब्दिक चमत्कार के फेर में पड़कर वह प्रकृति के सहज सौन्दर्य का गला घोंट देते हैं।

केशवदास की रामचन्द्रिका एक महाकाव्य है। इसमें भगवान् राम की कथा का सविस्तर वर्णन है। राम के भक्त होने पर भी उन्होंने राम को ऐतिहासिक रूप में चित्रित किया है। तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं, केशवदास के राम एक बड़े ऐतिहासिक पुरुष हैं। वही काव्य के नेता हैं। रामचद्रिका में राम की दिनचर्य्या का, उनके उठने-बैठने, उनके खाने-पीने, उनके भोजन करने और सोने इत्यादि का वर्णन, रूप, शोभा, ऐश्वर्य, जल-क्रीड़ा, नखशिख और षट्ऋतुओं आदि के वर्णन में घुल मिल जाता है। ऐसे अवसरों पर यह जान पड़ता है कि केशव राम को भूलकर शब्द-विलास में संलग्न हो गये हैं। उनके राम उनके इशारे पर नाचनेवाले नायक हैं। वह स्वयं कुछ नहीं हैं, यंत्रवत् हैं, निर्जीव हैं, हृदयहीन हैं। इस प्रकार उनकी राम-भक्ति उनकी कृत्रिम प्रवृत्तियों के प्रवाह में बह जाती है। उनकी रचनाओं से उनके राम-भक्त होने का कहीं भी परिचय नहीं मिलता।

मार्मिक स्थलों के चित्रण में केशव की कला ने अधिक सफलता नहीं पाई है। उनके संवाद भी अधिक लंबे और शुष्क हैं। उनमें तर्कों की शुष्कता है, हृदय की कोमलता नहीं है। उनमें नाटकीय अभिनय अवश्य है। उनमें पात्रों की विशेषताओं का निर्वाह बड़े कौशल से किया गया है। केशव ने राम-कथा में से उन्हीं स्थलों को सम्वाद के लिए चुना है जो उनकी प्रकृति और क्षमता के अनुकूल हैं।

केशव अपनी समस्त रचनाओं में दरबारी कवि हैं। अपनी रामचन्द्रिका में उन्होंने मार्मिक स्थलों की उपेक्षा करके केवल राजसी शृंगार, नगर की सजावट, उत्सवों की रमणीयता आदि पर ही अपनी

दृष्टि जमाई है। स्वाभाविकता और काव्योचित भावुकता तो उनकी रचनाओं में है ही नहीं, और जहाँ थोड़ा-बहुत है भी वहाँ उनकी अलंकार-योजना उस पर अपना रोब गालिब किये हुए हैं। अलंकारों का प्रचुर प्रयोग केशव के काव्य-कानन की असहनीय सुगन्ध है, किन्तु फिर भी हिन्दी जगत् उनके काव्य को आदर की दृष्टि से देखता है और उनके पाण्डित्य का लोहा मानता है।

केशव की भाषा और शैली

केशव की भाषा पर हम दो दृष्टियों से विचार करेंगे। हम यह देखेंगे कि १. वह भाव के अभिव्यंजन में कहाँ तक समर्थ हुई है और २. उस भाव को कितनी सुन्दरता से प्रकट करने में कवि ने अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। हम यह तो जानते ही हैं कि केशव की भाषा ब्रज़-भाषा है। यही उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत की काव्य-भाषा थी; परन्तु उनकी भाषा पर बुन्देलखंडी का बहुत कुछ प्रभाव है। यह शब्दों के प्रयोग, क्रिया के कालों तथा संज्ञा-सर्वनामों के रूपों से भी लक्षित होता है। कहीं-कहीं बुन्देलखंडी मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो ब्रजभाषा में अप्रचलित थे। विदेशी शब्द भी उन्होंने अपनाये हैं, पर बहुत कम। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ बहुत खटकती हैं। इस दोष के अतिरिक्त उनकी भाषा में अन्य दोष भी हैं। उन्होंने अपनी भाषा में ऐसी पदावली की योजना भी की है जो एकदम संस्कृत-सी प्रतीत होती है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह क्लिष्ट है। यह क्लिष्टता लोगों को इसीलिए मालूम होती है कि भाषा से टक्कर लेने के पश्चात् भी वह कवि की अन्तरात्मा तक नहीं पहुँच पाते। उनके छन्दों का चुनाव भी अनुपयुक्त है। एक ही छन्द में ठूँस-ठूँस कर भाव भरने के कारण वे क्लिष्ट हो गये हैं और उनके प्रवाह में शिथिलता भी आ गई है। हाँ, रस तथा नायिकाभेद-वर्णन के समय उन्होंने प्रसादयुक्त भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा कवित्त,

सवैये आदि में प्रसाद-युक्त, सरल और सुव्यवस्थित है। अपनी भाषा को सजाने के लिए उन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। इनसे कई स्थलों पर भाषा के सौन्दर्य में अभिवृद्धि भी हुई है और भावों के स्पष्टीकरण में सहायता भी मिली है।

केशव की शैली में अपनापन बहुत है। वह हजारों कवियों में शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। उन्होंने अपनी रचना में संस्कृत काव्य-शैली का अनुकरण किया है। उनकी छन्द-योजना संस्कृत साहित्य की छन्द-योजना है। कवित्त, दोहा, सवैया आदि में भी उन्होंने सफलतापूर्वक रचनाएँ की हैं उनकी रचनाओं में छन्दों का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से मिलता है। यदि कहीं दो पंक्तियाँ दोहे की हैं तो दो नाराच छन्द की और फिर दो अन्य छन्द की। इस प्रकार के छन्द-परिवर्तन से कथा-सूत्र की गति अवश्य बढ़ जाती है, परन्तु पाठक को असुविधा बहुत होती है।

अब तक केशव की काव्य-कला की जो आलोचना की गई है उससे यह स्पष्ट है कि वह प्रथम श्रेणी के आचार्य थे। उन्हें अपने आचार्यत्व का अभिमान था और वह उसकी छाप अपने साहित्य पर छोड़ जाना चाहते थे। उनकी शैली का मायाजाल कुछ ऐसा विलक्षण है कि वह उनके दोषों पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने का अवसर ही नहीं देता। उनके नाम और करामात का ऐसा जादू है कि हिन्दी-संसार उनके समस्त काव्य-दोषों पर पर्दा डालकर उन्हें महाकवि की उपाधि से विभूषित करता है और हैं भी वास्तव में वह महाकवि। वह हिन्दी-संसार में आचार्य-परम्परा के जन्मदाता हैं। रीति-काल के वही अग्रदूत हैं। उनकी रचनाओं से हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट अंग की पूर्ति हुई है और उसे बल मिला है। भावी कवियों के वह आज तक पथ-प्रदर्शक हैं। अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान काव्य-कला की दृष्टि से मिल्टन को मिला है, हिन्दी में वही स्थान केशव को दिया जाता है। मिल्टन की रचनाओं में विचारों की जैसी गंभीरता है, कल्पना की

जैसी उड़ान है, शैली की जैसी क्लिष्टता है, केशव में भी वैसी ही बातें हैं। हिन्दी के वह मिल्टन हैं। उनमें दोनों प्रकार का सामर्थ्य है—भावात्मक भी और व्याख्यात्मक भी। उनकी परिस्थितियाँ व्याख्यात्मक काव्य के अनुकूल थीं, इसलिए उनकी भावात्मक प्रतिभा को विकास का अवसर नहीं मिला। फिर भी कविता के जिस पक्ष को उन्होंने अपनाया उसे उन्होंने अपने आचार्यत्व से चमका दिया। इस सम्बन्ध में हिन्दी-संसार उनका आभार स्वीकार करता है और सूर तथा तुलसी के पश्चात् उन्हें तीसरा स्थान देकर सम्मानित करता है।

—१०—

कविवर रसखान

जन्म सं० १६१५ *मृत्यु सं० १६८५*

रसखान का जन्म लगभग सं० १६१५ में हुआ था। वह दिल्ली के राज-वंश के पठान थे। उनका वास्तविक नाम सैयद इब्राहीम था।

जीवन-परिचय

युवावस्था में कुछ वैष्णवों के उपदेशों से उनका प्रेम सांसारिक प्रेम से हटकर श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति आकृष्ट हुआ। इसकी कथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में मिलती है। कहा जाता है कि एक बार जब वह श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से वेष बदलकर गोकुल के श्रीनाथजी के मन्दिर में जा रहे थे तब पौरिये ने उन्हें पहचान लिया और रोक दिया। अतः वह तीन दिन तक वहीं भूखे-प्यासे गोविन्दकुण्ड पर बैठे रहे। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी ऐसी उत्कट लालसा देखकर गोस्वामी विट्ठलनाथ को दया आ गयी और उन्होंने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। शिष्य होने पर वह 'रसखानि' के नाम से प्रसिद्ध हुए। तब से अपनी मृत्यु तक वह कृष्ण के भक्त बने रहे। उनकी मृत्यु सं० १६८५ में हुई।

रसखान फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। फ़ारसी में भागवत का अनुवाद उन्होंने बड़े चाव से पढ़ा था। दीक्षोपरान्त विद्वान सन्तों तथा भक्तों के सम्पर्क तथा स्वाध्याय से उन्हें संस्कृत का भी किंचित ज्ञान हो गया था। हिन्दी-काव्य-ग्रन्थों तथा पिंगल आदि शास्त्रों का अध्ययन एवं अनुशीलन भी उन्होंने किया था। व्रजभाषा के वह अच्छे पण्डित थे। अधिक समय तक गोकुल में जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी व्रजभाषा पर खराद-सा चढ़ गया था। आरम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति आत्मसमर्पण की ओर अत्यधिक थी। इसी में वह भक्ति की पूर्णता समझते थे। कृष्ण की भक्ति का उद्रेक हो जाने पर संसार के समस्त ऐश्वर्य उनकी दृष्टि में तुच्छ हो गये थे। भोग, जप, तप, तीर्थ, व्रतादि को वह प्रेम के आगे व्यर्थ समझते थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों प्रकार की मुक्ति में से वह किसी के इच्छुक नहीं थे। वह प्रभु-पद-प्रीति से ही संतुष्ट थे। निःस्वार्थ प्रेम ही उनके जीवन का लक्ष्य था—ऐहिक जीवन में भी और आध्यात्मिक जीवन में भी। उनका समस्त काव्य निःस्वार्थ प्रेम की भावना से भरा हुआ है।

रसखान प्रेमानुभूति के कवि थे। उनका रचना-काल सं० १६४० के उपरान्त माना जाता है। उनके दो ही ग्रंथ अब तक प्राप्य हैं।

रसखान की रचनाएँ

'प्रेम वाटिका' उनकी सर्वप्रथम रचना है। इसका रचना-काल सम्वत् १६७१ है। इसमें केवल २५ दोहे और सोरठे हैं। इन छन्दों में प्रेम का बड़ा ही हृदयग्राही विशुद्ध चित्र अंकित किया गया है। उनका दूसरा ग्रंथ 'सुजान-रसखान' है। इसमें १२६ छन्द हैं जिनमें १० दोहे-सोरठे आदि हैं और शेष कवित्त-सवैये हैं। इनमें भी प्रेम का ही चित्रण हुआ है। कृष्ण-भक्ति के कवियों की भाँति रसखान ने गीति-काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयों में ही अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है। उनकी कृति परिमाण में बहुत अधिक नहीं है, पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करनेवाली है।

हिन्दी काव्य के इतिहास में रसखान का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब हिन्दी काव्य का परम उत्कर्ष हो चुका था और मुगल सम्राट अकबर के सुव्यवस्थित शासन के कारण जनता जान-माल से निश्चिन्त होकर कलाप्रिय बनती जा रही थी। उस समय धार्मिक मामलों में अकबर की उदारता के कारण भक्ति का एक प्रबल प्रवाह फूट निकला जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से अवगाहन कर रहे थे। इसलिए ऐसे स्वर्ण युग में जहाँ हिन्दू साधु-सन्तों ने अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया वहाँ मुसलमानों ने भी उनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर अपने हृदय का द्वार उसके लिए खोल दिया। ऐसे मुसलमानों पर कृष्ण-भक्ति का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। कृष्ण-भक्ति में सौंदर्योपासना तथा मधुर भाव की प्रधानता थी। ये बातें उन मुसलमानों के हृदय के अनुकूल विशेष रूप से सिद्ध हुई जिनपर सूफी मतावलम्बी प्रेम-मार्गी मुसलमान कवियों का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ चुका था। रसखान सौंदर्योपासक थे, रसिक थे, प्रेमी थे। यौवन काल में ही उनकी सौंदर्योपासना, उनकी प्रेम-पिपासा विषय-वासना की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, पर जब वैष्णव-भक्तों से उनका साक्षात्कार हुआ और उनकी भक्ति-भावना का उन पर प्रभाव पड़ा तब उनका वह ऐहिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो गया। उस समय उनके हृदय में प्रेम और भक्ति की जो धारा प्रवाहित हुई उसने उनकी सारी कलुषित कामनाएँ पूत कर दीं।

रसखान की काव्य-साधना

रसखान में भावुकता कूट-कूटकर भरी हुई थी। वह सौंदर्य और प्रेम के कवि थे। 'प्रेमवाटिका' में उनका प्रेम-निरूपण हिन्दी साहित्य की अमर रचना है। इस काव्य-पुस्तक में उन्होंने प्रेम के सभी पक्षों पर अपने दृष्टिकोण से एक आचार्य की भाँति विचार किया है। इसके अध्ययन से उनके पाण्डित्य और चिन्तन की छाप

हृदय पर अंकित हो जाती है। उनका दूसरा काव्य-ग्रन्थ है 'सुजान रसखान।' यह ग्रन्थ उनके काव्य-हृदय का परिचायक है। इसमें कृष्ण, गोपिकाएँ तथा मुरली उनके वर्ण्य-विषय हैं। अतः सुविधा की दृष्टि से हम उनकी समस्त रचनाओं को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. प्रेम-निरूपण सम्बन्धी रचनाएँ, और २. कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ।

[१] प्रेम-निरूपण सम्बन्धी रचनाएँ—हम बता चुके हैं कि रसखान ने एक आचार्य की भाँति प्रेम की व्याख्या की है। प्रेम-तत्त्व-निरूपण की दृष्टि विशेष महत्त्व की वस्तु है। इसमें प्रेम के विभिन्न स्वरूपों पर वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी 'प्रेमवाटिका' में विचार किया गया है। उनकी कामना रहित प्रेम की परिभाषा इन दोहों में देखिए:—

बिन गुन जीवन रूप धन, बिन स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना से रहित, प्रेम सफल रसखानि॥
इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान।
गिनै प्रियाहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

इस प्रकार रसखान ने पहले प्रेम का स्वरूप स्पष्ट किया है और फिर उस प्रेम को आनन्द-स्वरूप मानकर उसके दो भेद—विषयानन्द और ब्रह्मानन्द—किये हैं। इन दो भेदों में से वह ब्रह्मानन्द को उच्च कोटि का प्रेम मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद और भी किये गये हैं। प्रेम-मार्ग के सम्बन्ध में वह कहते हैं:—

कमल तंतु से छीन अरु, कठिन खड्ग की धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि, प्रेम-पंथ अनिवार॥

उनके शुद्ध प्रेम का लक्षण यह है:—

जेहि पाये बैकुंठ अरु, हरिहू की नहिं चाहि।
सोई अलौकिक शुद्ध, सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥

'प्रेमवाटिका' इसी प्रकार की व्याख्याओं से आदि से अन्त तर्क भरी हुई है। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसखान ने प्रेम का अत्यन्त विशद तथा सूक्ष्म वर्णन किया है।

[२] कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ—रसखान की भक्ति उनके प्रेम-निरूपण के अनुकूल ही हुई है। वह कृष्ण के अनन्य भक्त हैं और उनको विष्णु का अवतार मानते हैं।

कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति सखा-भाव की है। उनकी भक्ति का आधार है रूपासक्ति। कृष्ण के अलौकिक सौंदर्य ने ही उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है। इसलिए वह उन्हीं के हो गये हैं और उनकी प्रत्येक वस्तु से प्रेम करते हैं। व्रजभूमि, गोप और ग्वाल ही नहीं, वहाँ की तुच्छ से तुच्छ वस्तुएँ भी उन्हें इसीलिए प्रिय हैं। कहने का तात्पर्य यह कि कृष्ण का जिन प्राणियों से, जिन वस्तुओं से, जिन कार्य-व्यापारों से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध है, रसखान उन सब से उतना ही प्रेम करते हैं जितना कि कृष्ण से। प्रेम की यह विशेषता जितनी उनमें है उतनी हिन्दी के कम भक्त-कवियों में देखने को मिलती है। निम्न पद्य में उनकी अभिलाषा देखिए :—

मानुष हौं तौ वही रसखान, बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरी को, जो कियो व्रजछत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं वहीं, कलिन्दी-कूल, कदम्ब की डारन॥

रसखान की ऐसी ही पूत अभिलाषाओं में उनकी भक्ति का विकास हुआ है। उन्होंने कृष्ण और राधा की प्रेम-लीलाओं का भी अत्यन्त संयत, शुद्ध और सुन्दर वर्णन किया है। 'उन्हें भूलि गईं गैयाँ, इन्हें गागर उठाइबों' में कालिन्दी तट पर युगल-मूर्तियों के साक्षात्कार और प्रेम-मिलन का जो प्रभाव दिखाया गया है उसे चित्रकार की तूलिका भी अंकित नहीं कर सकती। उनके ऐसे छन्द हिन्दी में बेजोड़ हैं। उन्होंने अन्य कवियों की भाँति कृष्ण की बाल-

लीलाओं का भी वर्णन किया है। बाल-सुलभ भावों की चपलता और चंचलता का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

धूरे भरे अति सोहत स्याम जू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरें अंगना, पग-पैजनी बाजती पीरी कछोटी॥
वा छवि को 'रसखान' विलोकत, वारत काम-कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥

रसखान का रूप-सौन्दर्य-वर्णन भी अपने में बेजोड़ है। उनके शब्द-चित्र बड़े अनूठे, मार्मिक, और भावपूर्ण होते हैं। रूप-सौंदर्य-वर्णन की भाँति ही उन्होंने मुरली की प्रशंसा में भी अद्वितीय छन्द कहे हैं। उनका 'सुजान रसखान' उनकी ऐसी ही प्रेम-विभोर रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि घोर शृंगारिक वर्णनों की ओर नहीं गयी है। उनके शृंगार-वर्णन की यह विशेषता है कि उसमें लौकिक थोड़ा औरआध्यात्मिक पक्ष अधिक है।

रसखान हिन्दी के बहिर्मुखी कवि हैं। उनकी रचनाओं में भाव-व्यंजना की विविधता नहीं है। उनकी भाव-व्यंजना उक्तिमुखेन-प्रधान है। भिन्न-भिन्न चेष्टाओं अथवा अंतर्वृत्तियों का वर्णन उन्होंने नहीं किया है। उक्ति के विधान में ही उन्होंने अपने काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। 'राधिका जीहैं तो जीहैं सबै न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारे' आदि उक्तियों की कल्पना करके उन्होंने अपते प्रत्येक पद में रस भर दिया है। उन्होंने कृष्ण के हृदयगत भावों एवं गुणों को अधिकांश काव्य-रूप नहीं दिया है। उनमें कृष्ण के रूप-सौंदर्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न अधिक है। यही कारण है कि हम उनके काव्य में शृंगार के वियोगपक्ष का वर्णन कम पाते हैं। उन्होंने संयोग-पक्षांतगत सुखद भावना को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। वह वस्तुतः मधुर तथा आनन्द पक्ष के ही प्रेमी और पोषक थे। ऐसी दशा में उन्होंने अपने काव्य में अपने भावों के अनुकूल ही सामान्य परिस्थितियों और दृश्यों का चयन किया है।

इससे उनकी रचना में बड़ी ही प्रभावोत्पादकता और तन्मयता आ गयी है। उनकी रचनाओं का आनन्द लेने के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका काव्य सीधा, सरल और स्वाभाविक भावनाओं से भरा हुआ है। उनमें धार्मिक कट्टरता का सर्वत्र अभाव है। मुसलमान होकर भी वह कृष्ण-भक्त थे और कृष्ण-भक्त होकर भी वह राम, शंकर आदि देवताओं के प्रति उदार थे। उन्होंने गंगा की प्रशंसा में भी कई छन्द लिखे हैं।

रसखान की भाषा और शैली

रसखान की काव्य-भाषा ब्रजभाषा है। उनकी ब्रजभाषा परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित है। बिहारी और घनानन्द की भाँति उनकी भाषा में ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य आ गया है। उनकी भाषा में न तो क्लिष्ट तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, न साहित्यिक भाषा की गंभीरता है और न लाक्षणिक शब्दों की अधिकता है। उसमें सँवारने-सजाने का प्रयत्न भी नहीं है। बोलचाल के शब्दों को ग्रहण करने के कारण उनकी भाषा स्वतः मधुर और आकर्षक हो गयी है। इसीसे उसमें अद्भुत प्रवाह भी है। उनकी भाषा सतियों की भाँति उनके भावों का अनुगमन करती है। उनका शब्द-चयन बहुत ही सुन्दर है। क़हीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते हैं, पर उनकी शब्द-योजना में ऐसे शब्दों का सन्निवेश ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल ही हुआ है। उनमें उतनी ही मधुरता और मार्दव है जितनी कि ब्रजभाषा के शब्दों में। अजूबा, ताख, सुमार आदि ऐसे ही शब्द हैं। कुछ शब्द अपने तत्सम रूप में भी आये हैं। उनकी भाषा में कुछ अवधी भाषा के शब्द भी मिलते हैं। दुवारो, पियारो, ताहि, अवार, अस, केरो, आहि, आदि शब्द उनकी रचना में अवधी के प्रभाव से ही आये हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं राजस्थानी तथा अपभ्रंश के शब्द भी मिलते हैं। उन्होंने परम्परागत शब्दों का विधान भी बड़ी सफलतापूर्वक किया है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है,

पर ऐसा उन्होंने भाषा के स्वाभाविक प्रवाह का ध्यान रखकर ही किया है। लोक-प्रचलित मुहावरे तो उनकी भाषा में प्राण बनकर आये हैं। पाले पड़ना, नाच नचाना, आँख से आँख लड़ाना आदि मुहावरों का प्रयोग उनकी क्षमता और तीव्र बुद्धि का परिचायक है।

रसखान की शैली अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और माधुर्य-गुणयुक्त है। अपने विषय के प्रतिपादन में उन्होंने सरलतम मार्ग का अनुसरण किया है। उनके भाव अत्यन्त स्पष्ट और उनकी उक्तियाँ अत्यन्त सरल और आकर्षक होती हैं। चमत्कार की ओर उनकी रुचि नहीं जान पड़ती। इसलिए उनकी रचनाओं में अलंकारों का विधान भी स्वाभाविक रूप में हुआ है। उनके अलंकार-विधान में अनुप्रास का प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त रूपक, उपमा, यमक, श्लेष, पुनरुक्ति प्रकाश आदि भी मिलते हैं। इन अलंकारों के प्रयोग से जहाँ भाषा को सजाने-सवाँरने का काम लिया गया है वहाँ उनसे रसोद्रेक में भी सहायता मिली है।

अलंकार-योजना की भाँति ही रसखान की छन्द-योजना भी सरल और भावानुकूल है। उन्होंने दोहा, सवैया और कवित्त ही लिखे हैं। उनके सवैये बेजोड़ होते हैं। अतः संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक, सरस, मधुर प्रसाद-गुणयुक्त, शृंगारिक और प्रवाहपूर्ण है। उन्होंने जो कुछ कहा है, सीधे ढंग से, बिना कुछ घुमाव-फिराव के कहा है। उन्होंने अपनी शक्ति को कथन-प्रणाली की विशेषता में न लगाकर विधायक कल्पना के निर्माण में ही लगाया है। इसलिए उनकी शैली में मस्ती है, तन्मयता है, तल्लीनता है। जिन भावों से वह स्वयं प्रभावित हैं उनसे अपने पाठकों को प्रभावित करने की अद्भुत कला वह भलीभाँति जानते हैं। इसीसे साधारण से साधारण पाठ उनकी अमर रचनाओं का आनन्द ले सकते हैं। उनकी रचनाओं को देखकर हमें भारतेन्दु का यह पद स्मरण हो आता है:—

इन मुसलमान कविजनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये ।

और उनकी प्रेम-भावना का अनुभव करके 'अकबर' का यह पद याद आता है :—

इश्क को दिल में दे जगह 'अकबर'।
अक्ल से शायरी नहीं आयी ॥

—११—

महाकवि बिहारीलाल

जन्म सं० १६५२ *मृत्यु सं० १७२१*

जीवन-परिचय

महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर राज्य में संवत् १६५२ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था। वह धौम्य-गोत्रीय, श्रोत्रिय चतुर्वेदी माथुर थे। कहा जाता है कि सम्वत् १६६० के लगभग वह ग्वालियर से ओरछा चले आये। यहाँ उन्होंने केशवदास से भेंट की। उस समय केशव की काव्य-कला एवं पाण्डित्य की हिन्दी संसार में धूम थी। अतः केशवराय ने अपने पुत्र बिहारीलाल को काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए केशवदास के सुपुर्द कर दिया। बिहारी में प्रतिभा थी, इसलिए थोड़े ही दिनों में उन्होंने केशवदास से काव्य-रचना-सम्बन्धी बहुत बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

केशवराय थोड़े ही दिनों तक ओरछा में रहे। केशवदास के विरक्त हो जाने पर वह बिहारीलाल को साथ लेकर ब्रज चले आये। यहाँ रहकर बिहारी ने साहित्य का अच्छा अध्ययन किया। इस समय उनके कुटुम्ब में चार प्राणी थे—बिहारी, उनके छोटे भाई बलभद्र,

वहिन और केशवराय। केशवराय की धर्मपत्नी का देहान्त बहुत पहले हो चुका था। इसलिए वह अपने बच्चों सहित बाबा नागरीदास के साथ यमुना की कछार में कुटी बनाकर रहने थे। बाबा नागरीदास के वह अनन्य भक्त थे। उन्हीं के कहने से उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया। कालान्तर में इन्हीं हरिकृष्ण मिश्र से हिन्दी के उद्भट विद्वान श्रीकुलपति का जन्म हुआ। विहारी का विवाह व्रज के एक माथुर ब्राह्मण-परिवार में हुआ और उनके भाई बलभद्र का मैनपुरी में। इस प्रकार अपने पुत्रों तथा पुत्री का विवाह करने के पश्चात् केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैरागी हो जाने पर विहारी का वहाँ रहना असम्भव हो गया। इसलिए वह अपनी ससुराल मथुरा में रहने लगे। कभी-कभी वह अपने पिता से मिलने के लिए बाबा नागरीदास के पास आ जाया करते थे।

विहारी के गुरु बाबा नरहरिदास थे। एक दिन वह बुन्देलखंड से भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन पधारे और यहाँ आकर बाबा नागरीदास के साथ उनकी कुटी में रहने लगे। नरहरिदास एक वीतराग और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशंसा सुनकर तत्कालीन मुगल सम्राट जहाँगीर उनसे मिलने आये। सौभाग्यवश इसी समय विहारी भी वहाँ पहुँच गये। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य विहारी का उनसे परिचय करा दिया। इस प्रकार विहारी को आश्रय मिल गया। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ ने उनका बड़ा सत्कार किया और उन्हें आगरा बुला लिया। वहीं हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना से उनका परिचय हुआ। रहीम बड़े ही गुण-ग्राही और कवियों के लिए कल्पतरु थे। कहते हैं कि उन्होंने विहारी के एक दोहे पर मुग्ध होकर उन्हें इतनी स्वर्ण मुद्राएँ दी थीं कि वह उनके ढेर में ढक गये थे।

शाहजहाँ की कृपा से विहारी को कई राजाओं से वार्षिक वृत्ति भी मिलती थीं। नूरजहाँ की कुचालों से जब शाहजहाँ को आगरा

छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा तब बिहारी को भी आगरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। वह फिर मथुरा में रहने लगे। एक बार वह वर्षाशन लेने के लिए जोधपुर गये। उस समय वहाँ के महाराज जसवन्तसिंह बड़े गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी थे। कहा जाता है कि उनका बनाया हुआ भाषा-भूषण वास्तव में बिहारी की रचना है। कुछ लोग जोधपुर में दूहा-संग्रह के नाम से उनकी एक रचना का उल्लेख करते हैं।

बिहारी के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वह संवत् १६६२ के लगभग वर्षाशन लेने के लिए जयपुर भी गये थे। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नव विवाहिता रानी के प्रेम में इतने निमग्न थे कि राज्य-काज तक नहीं देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होंने मालिन-द्वारा यह दोहा उनके पास पहुँचा दिया :—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही तें बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि महाराज ने इस दोहे को कई बार पढ़ा और इससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने राज्य-काज की ओर पुनः ध्यान देना आरम्भ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने उनका बड़ा सत्कार किया और उनका चित्र बनवाकर जयपुराधीश के अवरोध-गृह में लगवा दिया। इस घटना के तीन-चार मास बाद ही रानी अनन्तकुँवर के गर्भ से राजकुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही आमेर की राजगद्दी के अधिकारी हुए। बिहारी उनके गुरु नियुक्त हुए। इसी समय बिहारी ने सतसई की रचना की। रामसिंह की आज्ञा से बिहारी के दत्तक पुत्र निरंजनकृष्ण अथवा कृष्णलाल ने उनकी सतसई की टीका की।

बिहारी हिन्दू, हिन्दी और हिन्द के पूरे समर्थक थे। जयसिंह के आश्रित कवि होने पर भी उनमें स्वाभिमान की मात्रा का अभाव न

था। वह अत्यन्त स्पष्टवादी थे। अपने ७१६ दोहों में उन्होंने जयसिंह की प्रशंसा में ८ या ६ दोहों से अधिक नहीं कहे और इनमें भी उन्होंने महाराज की उचित प्रशंसा की।

सतसई समाप्त होने के थोड़े दिनों बाद विहारी की पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनके भावी जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह संसार से विरक्त होकर आमेर से वृन्दावन चले गये और अपना शेष जीवन वहीं शान्तिपूर्वक भगवद्भजन में व्यतीत करके संवत् १७२१ में परमधाम सिधारे।

विहारी की केवल एक रचना उपलब्ध है और वह है सतसई। इसमें विहारी के ७१६ दोहे संकलित हैं। इसके अतिरिक्त रत्नाकर ने बहुत-सी प्रतियों को मिलाकर लगभग १५० दोहे और विहारी की रचना छाँटे हैं। सतसई का आरम्भ संवत् १६६२ में हुआ था। यह विहारी के कितने दिनों के परिश्रम का फल है, इस सम्बन्ध में कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। वर्तमान अनुसन्धानों से इतना अवश्य पता चलता है कि संवत् १७०० में जब राजकुमार रामसिंह को विद्यारम्भ कराया गया तब उस समय तक सतसई बन चुकी थी और उसके ५०० दोहों का संग्रह करके विहारी ने राजकुमार को पढ़ाने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। ८ वर्ष में विहारी ने केवल ७१६ दोहों की रचना की और कुछ नहीं किया, यह बात समझ में नहीं आती। जो भी हो, अन्य रचनाओं के अभाव में भी हिन्दी-साहित्य को उनकी रचनाओं पर गर्व है।

विहारी सतसई मुक्तक काव्य है। मुक्तकों में कोई क्रम नहीं होता। इसीलिए विहारी सतसई का कोई निश्चित क्रम नहीं है। लोगों का कहना है कि सब से पहले औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने इसे क्रम-बद्ध कराया था। इसलिए वह आजमशाही क्रम से विख्यात

है। विहारी ने किस क्रम से इन मुक्तकों का निर्माण किया था, यह अनिश्चित-सा है।

विहारी सतसई का प्रत्येक दोहा मुक्तक काव्य है। इसमें शृंगार रस प्रधान है। परन्तु कुछ दोहे अन्य विषयों पर भी मिलते हैं।

विहारी की काव्य-साधना

शृंगार के दोनों रूपों—संयोग और वियोग—को लेकर विहारी ने बड़े चुभते दोहे कहे हैं। इन दोहों का हृदय पर तत्काल और बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। इनमें इतनी मादकता, इतना व्यंग, इतना चुटीलापन और इतनी तीव्रता है कि पाठक का कल्पना-कौतूहल एक साथ जागृत होकर, तृप्ति-द्वारा आनन्द में अपना अवसान करता है। काव्य में आनन्द का स्वरूप कथन की रसात्मकता है जो विभाव, अनुभाव आदि साधनों पर निर्भर रहती है। विहारी के दोहे इन्हीं साधन-रूप परिस्थितियों के वर्णन-द्वारा रसानुभव कराते हैं। अनुभावों तथा सात्विक भावों के चित्रण में मनोविज्ञान का गौरव भी उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। यह उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का द्योतक है।

विहारी ने शृंगार के संयोगपक्ष का अच्छा वर्णन किया है। उसमें सजीवता और जीवन की उछल-कूद भी है। प्रसंग के संकेत-द्वारा औत्सुक्य की ध्वनि देकर उन्होंने प्रेमातिशय की व्यंजना बड़े अनूठे ढंग से की है। उनका वियोग-शृंगार भी इसी प्रकार प्रभावशाली हुआ है। उन्होंने विरहदशा का वर्णन करते हुए शारीरिक व्यापारों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है।

विहारी ने अपने वियोग में मरण का भी वर्णन बड़ी कुशलता के साथ किया है। परन्तु इस प्रकार के वर्णन में उन्होंने अत्युक्तियों से बहुत काम लिया है। कहीं-कहीं उनकी अत्युक्तियाँ उपहास की मात्रा तक पहुँच गई हैं। ऐसे चित्रण स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक-से

प्रतीत होते हैं, परन्तु काव्य-कल्पना और भावों की तन्मयता की दृष्टि से उनमें जो आकर्षण है वह प्रशंसनीय है।

सौंदर्य-वर्णन में बिहारी बेजोड़ कवि हैं। स्वाभाविक सौंदर्य के वर्णन में कोई कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। इसलिए उनका नख-शिख-वर्णन हिंदी-साहित्य की एक अनुपम निधि है। इस प्रकार के वर्णन की प्रायः दो शैलियाँ देखने में आती हैं। एक तो केवल अंगों की और दूसरे आभूषण-सहित अंगों की। बिहारी ने इन दोनों शैलियों को अपने नख-शिख-वर्णन में अपनाया है। वह सहज सौंदर्य के उपासक थे। इसलिए उन्होंने आभूषणों को सौंदर्य में बहुत ही गौण स्थान दिया है।

बिहारी ने प्रकृति में भी चित्र सफलतापूर्वक उतारे हैं। उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ मानवीय अन्तर्जगत के सौंदर्य का भी चित्रण किया है। भारत में छः ऋतुएँ होती हैं। इन सब का अनूठा वर्णन बिहारी ने बड़े ठाट से किया है। वसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा पावस के अन्तर्गत हिंडोला का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनके ग्रीष्म, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर के भी वर्णन अत्यन्त चुटीले और चमत्कारपूर्ण हैं।

बिहारी की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। वह काव्य-कला से भी पूर्णतया परिचित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो अलंकार-शून्य हो। कई स्थलों पर तो उन्होंने कई अलंकारों का एक साथ बड़ी सुन्दरता से समावेश किया है। उनकी अलंकार-योजना में स्वाभाविकता है। अपना पाण्डित्य दिखाने के लिए उन्होंने जबरदस्ती अलंकारों को ठूँसकर अपनी कविता कामिनी का कलेवर बोझिल नहीं किया है। उनके अलंकार उनकी रचना में स्वाभाविक रीति से आये हैं। उनकी बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जो केवल अलंकार-प्रदर्शन के लोभ से की गई हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी चोखी हैं और वह उत्प्रेक्षा के उस्ताद हैं।

बिहारी की कविता प्रायः वर्णनात्मक है। सर्वांगपूर्ण होना ही इस प्रकार की कविता की विशेषता होती है। बिहारी ने अपनी तीव्र विवेचन-शक्ति से अपनी कविता में काव्य के प्रायः सभी अंगों का यथोचित समावेश किया है। क्या नख-शिख, क्या नायिकाभेद, क्या प्रकृति-चित्रण, क्या रस और क्या अलंकार उनकी रचनाओं में सभी कुछ यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। उनकी कविता में सब से प्रशंसनीय वस्तु है उनकी उक्तियाँ। इन उक्तियों की विदग्धता पाठक के हृदय को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। इनका चमत्कार ही बिहारी का बिहारीत्व है। उनकी उक्तियाँ काव्य-प्रेमी को सर्वथा रस-विभोर करके ही छोड़ती हैं। भक्ति-सम्बन्धी शुष्क एवं नीरस उक्तियाँ उनकी रचनाओं में नहीं मिलतीं। उनके भक्ति के दोहों में भी रस की मिठास ओत-प्रोत है। उनकी अन्योक्तियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं। उनके विषय मुख्यतः सांसारिक अनुभवों के तथ्य हैं। उन्होंने अपने इस प्रकार के अनुभवों को सीधी-सादी भाषा में भी स्थान दिया है। इतना होते हुए भी उनकी रचनाओं में हिन्दू आचार-व्यवहार का वह ऊँचा आदर्श नहीं है जो तुलसी की कविता में देख पड़ता है। उनकी रचनाओं में केवल प्रेम की गूँज है जो काम-वासना से ओत-प्रोत है। उनकी कामिनियों में लज्जा का भाव बहुत कम है।

बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी इस प्रकार लिखते हैं—बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है।

बिहारी की भाषा और शैली

वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत कर दिया है। यह बात बहुतों में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं मनगढ़न्त शब्द का भी प्रयोग किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी मुक्त है। वस्तुतः बिहारी की भाषा

बड़ी कोमल, सरस और सजी हुई है। उसमें अरबी, फारसी, तुर्की, बुन्देलखंडी, डिंगल और आवश्यक प्रान्तीय शब्दों का भी मिश्रण है। बिहारी की भाषा में भरती के शब्द नहीं हैं। उनकी रचनाओं में शब्द नपे-तुले और आवश्यकतानुसार हैं। उन्होंने शब्दों का चुनाव अपने भावों के अनुसार किया है। उनके शब्द अपने स्थान से हटाये नहीं जा सकते। यदि किसी शब्द के स्थान पर उसी भाषा का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो यह निश्चय है कि दोहे का साहित्यिक सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और उसके माधुर्य में फीकापन आ जायगा। बिहारी की भाषा में सब से बड़ी बात यह है कि वह अल्पाक्षरा होते हुए भी बृहत् अर्थ को सँभाले हुए है। उनकी रचना में मनोभावों का प्रतिबिम्ब निर्मल आरसी की भाँति पड़ता है। भाषा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में बिहारी का वही स्थान है जो अवधी में तुलसी का।

बिहारी के समय से व्याकरण का अनुशासन भाषा पर होने लगा था, परन्तु वह इतना दृढ़ न था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कई जगह लिंग-विपर्यय भी उपलब्ध हैं। उन्होंने एक शब्द का कहीं पुल्लिंग प्रयोग किया है और कहीं स्त्रीलिंग। इस दोष के रहते हुए भी उनकी भाषा प्रभावशाली और मुहावरेदार है। जहाँ व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं है वहाँ प्रसादगुण अच्छा है, परन्तु प्रसाद की अपेक्षा उनकी भाषा में माधुर्यगुण की मात्रा विशिष्ट है। उनकी रचना में ध्वनि-साम्य के लिए वर्णमैत्री परिमाण में सर्वत्र है जिससे तरह-तरह के अनुप्रासों की उत्पत्ति है। तो किसी-न-किसी प्राकृतिक वर्णनों में विषय की अनुकूलता के लिए भाषा भी प्रायः अपना रूप तदनुसार बदलती है। चित्रोपमता उनकी भाषा का प्रधान गुण है।

बिहारी ने मुक्तक काव्य की शैली को अपनाया है। मुक्तक में शिक्षा और नीति के उपदेश तथा शृंगारी रचनाएँ खूब गँठती हैं, क्योंकि इनमें पूर्वापर प्रसंग बहुधा सापेक्ष नहीं रहते। इस सम्बन्ध में

सब से बड़ी बात यह है कि जब उसमें मानव-जीवन के किसी अंग को लेकर अथवा किसी प्रकार के व्यंग का आश्रय ग्रहण करके कुछ कहा जाता है तब उसमें भाव-उद्रेकता और प्रभावोत्पादकता आती है, अन्यथा सरसता से वह बहुत दूर रहती है। बिहारी ने अपने विषय निर्वाचन में मुक्तकों के इस विशेष गुण का बहुत ध्यान रखा है। उन्होंने अपनी काव्य-सामग्री के लिए दोहा-शैली का निर्वाचन किया है और उसमें भाव भरने के लिए समास पद्धति का सहारा लिया है। ब्रजभाषा वास्तव में समास बाहुल्य का समर्थन नहीं करती। बिहारी ने इसीलिए अपने दोहों में छोटे-छोटे समस्त पद रखे हैं। इससे इनकी भाषा में चुस्ती और भाव-व्यंजकता आ गई है। मुक्तकों में प्रसंग-योजना की पटुता पर कवि की सफलता निर्भर रहती है। यदि प्रसंग रमणीय हो गया और कवि ने उस पर अपनी प्रतिभा की छाप अंकित कर दी तो फिर वह रचना अद्वितीय हो जाती है। बिहारी ने अपने मुक्तकों में ऐसे ही सरस प्रसंगों की योजना की है और इसीलिए उनके मुक्तक इतने प्रसिद्ध हैं।

बिहारी की रचनाओं के सम्बन्ध में इतनी आलोचना करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि वह रीतिकालीन शृंगारी कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में रीतिकालीन प्रमुख समस्त परम्पराओं का बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, शृंगार के संयोग और वियोग-पक्षों का वर्णन आदि में उनकी काव्य-कला का चमत्कार अत्यन्त सराहनीय है। उनकी रचनाओं में कवित्व शक्ति और काव्य-रीतियों का इतना सुन्दर संमिश्रण है कि वह एक साथ ही आचार्य और कवि माने जा सकते हैं। उनके काव्य का विषय है जीवन की दैनिक साधारण घटनाएँ। इन घटनाओं को उन्होंने शृंगार के रंग में रँगकर इतना सजीव बना दिया है कि वे मन को उन्मत्त कर देती हैं। स्वयं प्रेमी होने के कारण प्रेम का रंग चढ़ाने में वह इतने कुशल हैं कि उनकी वर्णित साधारण

घटनाएँ भी असाधारण-सी प्रतीत होने लगती हैं। उनके सम्बन्ध में किसी कवि ने यह सत्य कहा है:—

सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

—१२—

कविवर भूषण

जन्म सं० १६९२ मृत्यु सं० १७७२

जीवन-परिचय

कविवर भूषण के सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह संदिग्ध है। उनके एक दोहे के आधार पर यह कहा जाता है कि उनका जन्म कानपुर जिला के तहसील घाटमपुर के यमुनातटीय तिकवाँपुर (त्रिविक्रमपुर) ग्राम में हुआ था। वह त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कहा जाता है कि त्रिपाठीजी देवी के बड़े भक्त थे जिसके आशीर्वाद से उनके चार पुत्र—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ उपनाम जटाशंकर—थे। चारों भाई कवि थे। उनमें भूषण वीर रस के बड़े प्रतिभाशाली हुए। उनका जन्म संवत् अनुमानतः १६९२ माना जाता है।

भूषण बाल्यकाल से ही बड़े स्वतंत्र और उद्दण्ड प्रकृति के थे। एक विद्वान के घर में जन्म लेने के कारण उन्होंने न्यूनाधिक पढ़ना-लिखना अवश्य सीख लिया था, पर वह उनकी जीविका के लिए पर्याप्त नहीं था। आलस्यपूर्ण जीवन उन्हें प्रिय था। भाई कमाते थे और वह मस्त खाते थे। माता-पिता का देहान्त हो चुका था। बाहर भाइयों और भीतर भाभियों का राज्य था। एक दिन उनकी बड़ी

भाभी ने अवसर पाकर ऐसा ताना मारा कि भूषण छटपटा उठे। बात सच थी, तीर की तरह लग गई। वह उत्तेजित हो गये और घर से निकल पड़े। इस साधारण घटना ने प्रक्षुब्ध भाभी के उस व्यंगपूर्ण हास्य ने, भूपण को भूषण बना दिया।

प्रणवीर भूषण घर से निकलकर यत्र-तत्र विद्याध्ययन करने लगे। अध्ययन-काल ही में उनकी कवित्व शक्ति का उदय हुआ और तभी से वह सुन्दर रचना करने लगे। कालान्तर में उन्हें आश्रयदाता की आवश्यकता पड़ी। उस समय चित्रकूट-नरेश के सुपुत्र रुद्रराम बड़े कविता-प्रेमी थे। भूषण घूमते-फिरते उन्हीं के पास गये। रुद्रराम ने भूषण की प्रतिभा देखकर उनका बहुत सम्मान किया और उन्हें 'कवि भूपण' की उपाधि से विभूपित किया। इस उपनाम से वह इतने प्रसिद्ध हुए कि लोग उनका वास्तविक नाम ही भूल गये।

रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से भूषण कहाँ गये, इस विषय में लोगों के दो मत हैं। एक मतवालों का कथन है कि वह घूमते-फिरते अपने भाई चिन्तामणि के पास गये जो दिल्ली में राजकवि थे। उस समय मुग़ल सम्राट औरङ्गजेब था। चिन्तामणि उसी के दरबार में भूषण को ले गये। औरङ्गजेब कविता-प्रेमी था। उसके दरबार में कई राजकवि थे। इसलिए भूषण की प्रतिभा की परीक्षा के विचार से उसने उनकी कविता सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने अपनी कविता सुनाई और कहा जाता है कि वह वहाँ कुछ दिनों तक रहे भी।

दूसरे मतवालों का कथन है कि यह बात कल्पित है। अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भूषण औरंगज़ेब के दरबार में रह चुके थे। ऐसी दशा में उनका यह अनुमान है कि 'हृदयराम-सुत-रुद्र' के यहाँ होते हुए वह सीधे रायगढ़ पहुँचे। एक मत और है जो इन दोनों मतों के विरुद्ध है। उसके अनुसार भूषण का शिवाजी के समय में होना ही संदिग्ध है। जो भी हो, भूषण की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनको मुगल-दरबार की सभ्यता का

अच्छा ज्ञान था। दिल्ली-दरबार उनका देखा हुआ था। वह वहाँ कब गये थे, यह अवश्य निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

भूषण के रायगढ़ पहुँचने के सम्बन्ध में भी एक कथा है। कहते हैं, संध्या समय रायगढ़ पहुँचकर भूषण एक देवालय में ठहरे। दैवयोग से उस दिन शिवाजी भी अपने छद्मवेश में वहाँ पहुँचे। भूषण का परिचय पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने शिवाजी सम्बन्धी रचनाएँ सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने उनकी प्रशंसा में एक छन्द पढ़ा।

शिवाजी ने अपनी प्रशंसा का वह छन्द अठारह बार पढ़वाकर सुना। जब भूषण पढ़ते-पढ़ते थक गये और आगे पढ़ने से उन्होंने इन्कार कर दिया तब शिवाजी ने अपना परिचय देते हुए उन्हें पुरस्कृत किया और उन्हें अपना राज-कवि बना लिया। यही कथा दूसरे लोग दूसरी तरह से कहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन कथाओं का कोई महत्व नहीं है। भूषण शिवाजी के राज-कवि थे और वह उनके साथ कई लड़ाइयों में भी गये थे। इन लड़ाइयों का उन्होंने आँखों देखा वर्णन किया है।

भूषण शिवाजी के दरबार में बहुत दिनों तक रहकर सं० १७३१-३२ में अपने घर लौटे। लौटते समय मार्ग में वह छत्रसाल बुन्देला से भी मिले। उनके दरबार में भी वह कुछ दिनों तक रहे। कहा जाता है कि जिस समय भूषण उनके दरबार से विदा होने लगे उस समय उन्हें सम्मानित करने के लिए उन्होंने भूषण की पालकी का डंडा अपने कन्धे पर रख लिया। भूषण महाराज छत्रसाल की ऐसी नम्रता देखकर “बस, महाराज, बस” कहकर तुरन्त पालकी पर से कूद पड़े और उनकी प्रशंसा में दो-चार कवित्त और पढ़े जो ‘छत्रसाल दशक’ में संग्रहीत हैं।

घर आकर भूषण ने कुछ दिनों तक विश्राम किया। इसके बाद वह कमाऊँ नरेश के यहाँ गये। वहाँ उनका उचित आदर-सत्कार नहीं

हुआ। चलते समय कमाऊँ-नरेश ने उन्हें एक लाख रुपया दान में देना चाहा, पर भूषण ने उनका दान स्वीकार नहीं किया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् वह शिवाजी के पास फिर गये और समय-समय पर अपनी रचनाएँ उन्हें सुनाते रहे। इन रचनाओं में से अधिकांश शिवा-बावनी में संग्रहीत हैं। सं० १७३७ वि० में शिवाजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् भूषण घर लौट आये और कभी-कभी महाराज छत्रसाल के यहाँ जाते-आते रहे।

सं० १७६४ में जब शिवाजी के पौत्र साहुजी को दिल्ली की क़ैद से छुटकारा मिला तब भूषण उनसे मिलने गये। वह साल-डेढ़ साल उनके दरबार में रहे और फिर घर लौट आये। सं० १७६८ में वह बूँदी गये, पर वहाँ के स्वागत-सम्मान से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए वह छत्रसाल से भेंट करके अपने घर चले आये। अन्ततः सं० १७७२ के लगभग उनका स्वर्गवास हुआ।

भूषण की रचनाएँ

भूषण की रचनाओं का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार उनके बनाये हुए चार ग्रन्थ—१. शिवराज भूषण, २. भूषण हजारा, ३. भूषण उल्लास और ४. दूषण-उल्लास हैं, परन्तु शिवराज-भूषण के अतिरिक्त इनमें से अन्य किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लगा है। शिवा-बावनी, छत्रसाल-दशक तथा कुछ स्फुट कविताएँ तो समय-समय पर उनके रचे हुए छन्दों के संग्रह-मात्र हैं।

भूषण की काव्य-साधना

भूषण अपने समय की देन थे। इसलिए हमें उनकी रचनाओं में समय की पुकार मिलती है। अपनी रचनाओं में वह देश-दशा का चित्रण करते हैं, मुग़लों की उच्छृङ्खलता, अनाचार तथा उद्दण्डता का हृदय-विदारक वर्णन करते हैं और शिवाजी, छत्रसाल, बूँदी-नरेश तथा अन्य कतिपय नरेशों की प्रशंसा करते हैं। इन ऐतिहासिक घटनाचक्रों और अनाचारों से आगे उनकी आँखें नहीं उठतीं। वे गड़ गई हैं ऐसे

स्थान पर जहाँ हिन्दू राष्ट्र का कल्याण निहित है, जहाँ उसके जीवन-मरण का प्रश्न हल हो रहा है, जहाँ उसकी माँ-बेटियों की लाज अटकी हुई है। भूषण की चेतना-शक्ति को, भूषण की प्रखर प्रतिभा को उस स्थान से हटने का जी नहीं चाहता। यही तो कवि की तन्मयता का कारण होता है। इसी तन्मयता में डूबकर ही तो वह राष्ट्र के हृदय को आन्दोलित करनेवाले भाव बीन-बीनकर लाता है। भूषण तन्मय थे अपने युग की माँग को पूरा करने में। उनकी निगाह शृंगार की ओर नहीं गई। उनका विद्रोही हृदय उसे स्वीकार नहीं कर सका। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने कविता की तत्कालीन धारा के प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया। उनकी रचना की यह अद्भुत शक्ति है।

भूषण हिन्दी साहित्य के प्रथम राष्ट्र-कवि थे। उस साम्प्रदायिक युग में जब राष्ट्र का वर्तमान रूप नहीं था तब हिन्दू जाति के लिए भूषण की रचनाओं का राष्ट्रीय महत्त्व ही था। उनके शब्दों में अपार शक्ति और उनकी वाणी में अपार ज्वाला थी। वह हिन्दू जाति की आकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं के जागरूक चित्रकार थे। नायक के रूप में शिवाजी तथा छत्रसाल बुन्देला को उन्होंने स्वीकार करके अपनी रचनाओं में वस्तुतः हिन्दू-जनता की भावनाओं को ओजमयी भाषा में चित्रित किया है। भूषण में जातीय भावना प्रधान है। उनकी इस जातीय भावना को आश्रय मिला है शिवाजी के व्यक्तित्व में। इसीलिए शिवाजी उनकी दृष्टि में महान् हैं। उनके लिए शिवाजी का वही महत्त्व है जो तुलसीदास के लिए राम का, सूर के लिए कृष्ण का। औरंगजेब को भूषण इसीलिए नीचा दिखाते हैं कि वह हिन्दू जाति का शत्रु है, हिन्दू संस्कृति का वैरी है। भूषण की दृष्टि में वह राम के प्रतिनायक रावण से किसी बात में कम नहीं है। औरङ्गजेब हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के लिए उस समय का रावण और कंस है। उसकी पराजय अवश्यम्भावी है। अपनी इन्हीं भावनाओं

से प्रेरित होकर भूषण ने नायक तथा प्रतिनायक के चित्रण में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। परंतु वह अतिशयोक्ति ऐसी है जो हमारे मन और मस्तिष्क को नायक के प्रताप और यश से प्रभावित कर देती है। हम उस पर हँसते नहीं, उस पर आश्चर्य करते हैं, गर्व से फूल जाते हैं, रोमाञ्चित हो जाते हैं। उसे पढ़कर हमारी रग-रग फड़क उठती है, हमारी सुपुप्त भावनाएँ जाग उठती हैं। हो सकता है किसी की दृष्टि में उनकी कविता पांच, अराष्ट्रीय, द्वेष और घृणा से परिपूर्ण हो, परन्तु जो उस समय के वातावरण में पैठकर हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचारों को भूषण की आँखों और भूषण के हृदय से देखने की जितनी ही अधिक चेष्टा करेंगे वे उतना ही अधिक भूषण की रचनाओं के महत्त्व को स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ हो सकेंगे। वह यह समझेंगे कि कवि या साहित्यकार होकर यदि भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने साहित्य, अपने इतिहास और अपनी कवित्व शक्ति के प्रति अन्याय करते। इस प्रकार का अन्याय उस समय के बहुत से कवियों ने अपने प्रति किया है। उन्होंने अपनी कवित्त्व शक्ति को कामी और विलासी राजाओं की प्रसन्नता का साधन बनाकर अपयश ही प्राप्त किया है। वर्तमान राष्ट्रीय भावना में विश्वास करनेवाले भी उन्हें उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। भूषण ऐसी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। उस युग के कवियों में उनका सिर सबसे ऊँचा है। उनके व्यक्तित्व के आगे कोई टिक नहीं सकता। अपने समय के वह बेजोड़ कवि हैं।

भूषण किसी मत अथवा सम्प्रदाय के प्रति द्वेष नहीं रखते। उन्होंने अपनी रचना में एक भी ऐसे पद को स्थान नहीं दिया जिससे उनकी संकीर्ण धार्मिक भावना व्यक्त होती हो। सब धर्मों पर उनकी दृष्टि समान है, परन्तु अपने धर्म से, अपनी जाति से उन्हें विशेष ममता है। इसीलिए वह उसका कल्याण चाहते हैं; उसके उद्धार के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। वह उसकी फूट की ओर सबसे पहले

अपने साहित्य में संकेत करते हैं। वह कहते हैं 'आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुआन टूटे।' कितनी सत्य आलोचना है यह अपने समाज की! हिन्दी-साहित्य के आदि युग से भूषण तक किसी कवि ने भी हिन्दू जाति के ह्रास का इस रूप में अनुभव नहीं किया।

भूषण की रचनाओं में एक बात और है। उनकी रचनाओं में हमें ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। यद्यपि उनमें तिथि और सम्वत् के अनुसार घटनाओं का क्रम नहीं है तथापि तत्कालीन कतिपय नरेशों के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य घटनाओं का उसमें उल्लेख अवश्य है। इन घटनाओं के वर्णन में उनकी सत्यप्रियता प्रशंसनीय है। उन्होंने उनमें किसी प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं की और न अपने पास से उसमें कुछ सम्मिलित ही किया है।

भूषण मौलिक साहित्यकार हैं। रीति-काल की परम्पराओं से मुक्त होकर उन्होंने अपने ढंग से कविता-कामिनी की सेवा की है। उनकी भाव-व्यंजना सरल और सुबोध है। मौलिकता के कारण ही उन्होंने शृंगार-प्रणाली का परित्याग करके नये रसों और नई प्रणालियों को अपनाया है। उनकी अलंकार-योजना भी मौलिक है। उनकी कविता में न तो पुरानी ही युक्तियों का पिष्टपेषण है और न नवीन युक्तियों की भरमार ही। अपनी मौलिकता में वह प्राचीन और नवीन दोनों एक साथ हैं। शब्दों का इन्द्रजाल उनकी रचनाओं का लक्ष्य नहीं है। उनकी कविता मरी हुई जाति के जीवन के लिए है।

भूषण की भाषा व्रजभाषा है, पर वह वीर कवि के हाथों में पड़कर अपनी सहज कोमलता और माधुर्य खो बैठी है। इसलिए

भूषण की भाषा और शैली

भूषण की रचनाओं में हम उसका ओजमय और उद्दण्ड रूप देखते हैं। भाषा का यही रूप वीर रस के अनुकूल होता है। उसमें युद्ध का कोलाहल होता है, वीरों का दर्प रहता है, बादलों की कड़क रहती है; तलवारों की खड़क रहती है, तोपों का भयानक शब्द रहता है। भूषण

की भाषा कुछ इसी प्रकार की है। उसे मुख से कहते ही हमारी रगें फड़क उठती हैं। विपक्षी का हृदय आतंक से भर जाता है।

भूषण की भाषा शुद्ध व्रजभाषा नहीं है। उसमें विदेशी शब्दों की बहुलता है। अपनी आवश्यकतानुसार उन्होंने मुसलमान पात्रों के संसर्ग में, उनके कथोपकथन में, उनके व्यावहारिक जीवन के चित्रण में तथा उनकी रीति-नीति की अभिव्यंजना में अरबी तथा फ़ारसी के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। इन भाषाओं के कुछ शब्द तो अपने तत्सम रूप में आये हैं और कुछ तोड़-मरोड़ के पश्चात्। कई स्थलों पर तो उन्होंने शब्दों का ऐसा मनमाना रूप कर दिया है कि वास्तविक शब्द का पता लगाना ही कठिन हो जाता है। पादशाह, तसबीह, हजार, हासिल, रोज़ा, नमाज, फ़ौज, गुसुलखाना, अवरंग, कलकान, पिसानी आदि शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है। विदेशी शब्दों से भूषण ने हिन्दी व्याकरण के अनुसार क्रियापद भी बनाये हैं। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी शब्द-योजना में वैसवाड़ी शब्दों को भी स्थान दिया है और कहीं-कहीं क्रियाएँ संस्कृत के मूल रूप से ली गई हैं। इसी प्रकार अवधी, तद्भव तथा ठेठ शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अपभ्रंश और प्राकृतिक शब्दों के प्रयोग से उनकी कुछ रचनाएँ क्लिष्ट भी हो गई हैं। इस प्रकार उनकी भाषा साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है। वह एक प्रकार की खिचड़ी है। इसका एक कारण है और वह यह कि उन्होंने महाराष्ट्र के सैनिकों के उपयुक्त अपनी भाषा को बनाने की चेष्टा की है। महाराष्ट्र में जो शब्द जिस रूप में व्यवहृत होता था उसको उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी प्रकार रख दिया है। हमारे कानों को उनकी शब्दयोजना इसलिए खटकती है कि हम उसके अभ्यस्त नहीं हैं।

भूषण ने अपनी रचनाओं में यथास्थान लोकोक्तियों और मुहावरों को भी उचित स्थान दिया है। 'तारें लागे फिरन सितारे गढधर के', 'तारे सम तारे मूँदि गये तुरकन के' आदि अच्छे मुहावरे

हैं। इसी प्रकार उनकी लोकोक्तियाँ—सौ-सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी जप के, काल्हि के जोगी कलींदे को खप्पर—अत्यन्त चुटीली और सार्थक हैं। इन बातों पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि उनकी भाषा खिचड़ी होने पर भी ओजपूर्ण, चुटीली और प्रभावोत्पादक है।

भूषण की शैली वीरोचित शैली है। उनकी रचनाओं में नागरिक तथा प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण नहीं है। उनके वर्ण्य विषय हैं—युद्ध, शिवाजी का प्रताप, शिवाजी की दानशीलता, शिवाजी का आतंक, शत्रु-स्त्रियों की दुर्दशा। इन्हीं विषयों के चित्रण में उनकी शैली का प्रादुर्भाव हुआ है। उन्होंने इन विषयों के निरूपण में मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, गीतिका, मालती सवैया, किरीट, माधवी, लीलावती, अमृत-ध्वनि तथा गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

उनकी शैली की तीन विशेषताएँ हैं—प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता और सरलता। भूषण की शैली पाठक को आकर्षित करती है अपने सहज प्रभाव से और उसकी आँखों के सामने वर्णित विषय का इतना सुन्दर चित्र खींच देती है कि वह देखता रह जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण ने जिस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है उसका अन्त तक बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

—१३—

कवीश्वर देवदत्त

जन्म सं० १७३०   *मृत्यु सं० १८२४*

कवीश्वर देवदत्त का जन्म विक्रमीय सं० १७३० में हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा नगर के पंसारी टोला बल्लालपुरा

में रहते थे। उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने उनका जन्म-स्थान समाना गाँव माना है। यह गाँव जिला मैनपुरी में है। उनके वंशज अब भी मैनपुरी मण्डलान्तर्गत कुसमरा ग्राम में रहते हैं। उनके पिता का नाम पं० बिहारीलाल था।

जीवन-परिचय

देवदत्त की शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती, परन्तु सरस्वती के प्रसाद से उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही भावविलास ऐसे सुन्दर रीति-ग्रन्थ की रचना की थी। यह उनकी सं० १७४६ की रचना है। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि देव प्रतिभाशाली कवि थे। उनके समय में मुग़ल-सम्राट औरंगजेब का पुत्र तृतीय आजमशाह बड़ा ही गुणज्ञ, वीर और साहित्यानुरागी था। देव ने उन्हीं का आश्रय ग्रहण किया। उन्होंने देव का अष्टयाम और भावविलास सुना और उनकी प्रशंसा की। संवत् १७४६ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजसिंहासन के लिए उसके पुत्रों में जो गृह-युद्ध हुआ उसमें आजमशाह मारा गया। ऐसी दशा में देव का सम्पर्क भी दिल्ली-दरबार से छूट गया।

दिल्ली दरबार से अलग होकर देव अपने लिए किसी सुयोग्य गुणग्राही आश्रयदाता की खोज में निकले। कहते हैं कि वह एक बार भरतपुर-नरेश महाराज जवाहिरसिंह से भी मिलने गये। उस समय वह डीग के दुर्ग का निर्माण करा रहे थे। उनसे मिलने पर महाराज ने उनसे कविता सुनाने का आग्रह किया। देव सरस्वती के भक्त थे। उस समय उनकी सरस्वती मौन थीं। इसलिए इन्होंने कविता सुनाने से इन्कार कर दिया, परन्तु महाराज के बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने कई छन्द सुनाये। दुर्भाग्य से उनके मुख से उस समय एक ऐसा छन्द निकल गया जिसका आशय यह था कि डीग-दुर्ग में मनुष्यों के सिर लुढ़कते फिरेंगे। इस आशय का छन्द सुनकर महाराज उनसे असंतुष्ट हो गये, परन्तु कालान्तर में देव की वह भविष्यवाणी सत्य हुई।

देव बड़े स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उस समय के कवियों की भाँति वह अपनी कविता को आश्रयदाताओं की प्रसन्नता का साधन मात्र बनाना नहीं चाहते थे। आश्रयदाता वह चाहते थे अपनी कविता के विकास के लिए। इस उद्देश्य से राजा-महाराजाओं के यहाँ से निराश होकर उन्होंने अन्त में भवानीदत्त वैश्य का आश्रय ग्रहण किया और उन्हीं के नाम पर उन्होंने भवानी-विलास नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके यहाँ भी देव अधिक काल तक नहीं रहे। कुछ समय उन्होंने इटावा के शुभकर्णसिंह के पुत्र कुशलसिंह सेंगर का आश्रय ग्रहण किया और उनके नाम पर उन्होंने कुशल-विलास की रचना की। इसके बाद उनको राजा उद्योतसिंह का आश्रय मिला। वह बड़े साहित्य-प्रेमी थे। देव ने उनके नाम पर प्रेम-चन्द्रिका की रचना की। इन तीनों ग्रन्थों में देव ने अपने आश्रय-दाताओं का नामोल्लेख तो किया है, पर उनकी प्रशंसा में छन्द नहीं लिखे हैं। इसका कारण अनुमानतः यह हो सकता है कि उक्त आश्रयदाता उनके विचार से प्रशंसा के पात्र नहीं थे। संवत् १७८३ में देवदत्त को राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ। भोगीलाल कवि और काव्य-प्रेमी थे। उनके नाम पर देव ने रस-विलास की रचना की। राजा ने उनके इस साहित्यिक कार्य के लिए अच्छा पुरस्कार भी दिया। उनके विषय में देव कहते हैं:—

देव सुकवि ताते तजे, राव, रान, सुलतान।
'रस विलास' सुनि रीझि हैं, भोगीलाल सुजान॥

देव को अपने मनोनुकूल आश्रयदाता कोई भी नहीं मिला। राजा भोगीलाल के यहाँ भी वह अधिक दिनों तक नहीं रहे। जिस समय उन्होंने शब्द-रसायन की रचना की उस समय वह किसी के आश्रय में नहीं थे। इसीलिए वह किसी आश्रयदाता को समर्पित भी नहीं किया जा सका। जाति-विलास भी उनकी ऐसी ही रचना है। इन रचनाओं में आश्रयदाताओं के अभाव के कारण किसी प्रकार की

शिथिलता नहीं पाई जाती। कहते हैं, अन्त में उन्हें पिहानी-निवासी अकबरअली खाँ का आश्रय मिला। उनका आश्रय मिलने पर उन्होंने उस समय तक की अपनी समस्त रचनाओं को सुखसागर-तरंग-संग्रह का नाम देकर उन्हीं को समर्पित किया। यह घटना सं० १८२४ की बताई जाती है। यही उनका अन्तिम समय भी है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने ९४ वर्ष से अधिक ही आयु पाई थी।

देव ने अपने आश्रयदाताओं की खोज में भारत के विभिन्न प्रान्तों की ख़ूब यात्रा की थी। इससे उनका अनुभव-जन्य ज्ञान अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा था। 'रस-विलास' में उन्होंने अन्तर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृन्दावन, मालवा, अभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्णाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, काश्मीर और सौवार आदि स्थानों का वर्णन किया है। इससे उनके अनुभव-जन्य ज्ञान की विशालता स्पष्ट है। वह जहाँ गये वहाँ की स्त्रियों को उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा और उनका अत्यन्त रोचक वर्णन किया।

देव बड़े रूपवान् व्यक्ति थे। वह पुराने ढंग का बड़े घेर का जामा पहनते थे और सिर पर पगड़ी लगाते थे। उनकी वाणी बड़ी मधुर थी। स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह मानव गुण के सच्चे पारखी थे। उनकी दृष्टि और बुद्धि बड़ी तीव्र थी। वह पात्र देखकर उसकी प्रशंसा करते थे। यही कारण था कि अपने जीवन भर वह आश्रयदाताओं की खोज में इधर-उधर भटकते रहे। भूषण और बिहारी की तरह वह धनवान नहीं थे। उन्होंने जीवन के अनेक कष्ट झेले थे। सरस्वती के उपासक से लक्ष्मी रूठी रहती हैं, यह कहावत उनके जीवन से भली भाँति चरितार्थ होती है।

जन-श्रुति के अनुसार देव के ग्रन्थों की संख्या ५२ अथवा ७२ बताई जाती है। हिन्दी-नवरत्न में उनके २८ ग्रन्थों के नाम दिये गये

हैं जिनमें से १५ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनको मिश्रबन्धुओं को स्वयं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी समस्त रचनाओं में भावविलास, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, शब्द-रसायन आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट हैं। रसविलास और प्रेम-चन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। भावविलास और सुखसागर-तरंग रस-भेद तथा नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं। 'शब्दरसायन' उनके आचार्यत्व का ग्रन्थ है। इसमें रस, अलंकार तथा छन्द आदि का मार्मिक विवेचन है। इन समस्त ग्रन्थों से उनकी प्रतिभा और उनके मानसिक क्रम-विकास का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इनसे पता चलता है कि अपने यौवन काल के शृङ्गारी कवि देव अपने अन्तिम जीवन में वेदान्ती हो गये थे। 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि उनके ग्रन्थों में एक दूसरे ग्रन्थ से थोड़ी-बहुत सामग्री लेकर दोहराई गई है। ऐसा अनुमानतः इसलिए किया गया है कि उनके एक ही छन्द में कई सुन्दर भाव, रस, अलंकार आदि का सन्निवेश है। ऐसे छन्दों का उन्होंने उदाहरण देने में आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है।

देव की रचनाएँ

ब्रजभाषा-काव्य के शृङ्गारी कवियों की रचनाओं में देव की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं का सन्देश प्रेम का सन्देश है। उन्होंने अपनी प्रेम-चन्द्रिका में प्रेम का बड़ा ही सजीव वर्णन कुछ क्रमबद्ध रूप में किया है। प्रेम का लक्षण, स्वरूप, माहात्म्य, उसके विविध भेद आदि विषयों पर उनकी सहज प्रतिभा का चमत्कार देखने योग्य है। वह वस्तुतः प्रेम के कवि हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने दाम्पत्य-जीवन के विशुद्ध प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार के प्रेम में उषाकाल की प्रभा का प्रभाव होता है, और इसका आदर्श होता है दो आत्माओं का एक हो जाना। स्वार्थ का अभाव ही इसकी विजय है। यह सुन्दर सत्य, सर्वव्यापी और अविनाशी है। तभी तो वह कहते हैं :—

देव की काव्य-साधना

मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिकामय,
राधिका हूँ मोहि-मोहि मोहनमयी भाई।
+ + +
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं,
नैनन को कजरा करि रखौं।

देव के प्रेम का लक्षण है :—

सुख दुःख में है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥

देव पवित्र दाम्पत्य-प्रेम के समर्थक हैं। उन्होंने प्रेम के सहायक मन और नेत्र का भी आकर्षक वर्णन किया है। वह मानवी प्रकृति के सच्चे पारखी थे। उन्होंने मन और नेत्र की विविध गतियों पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया था। इसलिए वह उनके चित्रण में भी सफल हुए। वह अपने मन के सच्चे मित्र थे। कहते हैं :—

मोहिं मिल्यो जब तैं मन-मीत, तजी तब तैं सबतैं मैं मिताई।

देव अपने इसी मन-मीत के कारण किसी आश्रयदाता के मित्र नहीं बने। ऐसा स्वाभिमानी था उनका मन। फिर भी उन्होंने अपने मन को कभी माणिक के रूप में और कभी दलाल के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने उसको चेतावनी भी दी है और उसकी कोमलता की मोम, नवनीत एवं घृत से तुलना भी की है। उन्होंने उसकी चंचलता, विषय-तन्मयता आदि वृत्तियों का भी सजीव चित्रण किया है। विषयासक्त मन की उन्होंने घोर निन्दा की है। इस प्रकार उन्होंने मन के विविध रूपों पर प्रकाश डालकर अपनी प्रगाढ़ काव्य-चातुरी का परिचय दिया है।

नेत्रों के वर्णन में भी उनकी काव्य-प्रतिभा का हमें ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। कविगण प्रायः जिन-जिन पदार्थों से नेत्र की उपमा देते हैं उन सभी से उन्होंने एक ही स्थान पर उपमा दे दी है। उन्होंने अपने नेत्र-वर्णन में आँखों से सखी का भी काम लिया है। उनकी अँखियाँ कहीं मधु-मक्षिका हैं तो कहीं मतंग :—

वेगि ही बूड़ि गईं पँखिया, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

\+ + +

'देव' दुख मोचन सकोच न सकत चलि,

लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं।

यह तो हुआ देव का प्रेम-वर्णन। विरह-वर्णन में भी देव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनका विरह-वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और विदग्धतापूर्ण है। उसमें दीनता का विनीत स्वर है, सन्ताप की ज्वाला है, नैराश्य की सुषमा का प्रदर्शन है, रमणीय रोष का उद्गार है। कोमलता की कूक और अतुल प्रेम की हूक है। विरह की जितनी दशाएँ हो सकती हैं उन सब पर कवि का ध्यान समान रूप से गया है और उनका वर्णन वेदनापूर्ण हुआ है। उनके वर्णन में अतिशयोक्ति के साथ-साथ स्वाभाविकता भी पाई जाती है। उनके पूर्वानुराग, प्रवास, मान आदि के वर्णन बड़े ही अनूठे हुए हैं।

देव का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनके काव्य की इति-श्री संयोग और वियोग के वर्णन से ही नहीं हो जाती। उनकी रचनाओं से हमें उनके संसार-ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इसका कारण है उनकी बहुदर्शिता। उनका दृष्टि-क्षेत्र उनके परवर्ती कवियों की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्होंने भारत के विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण किया था। इसलिए उनका तत्सम्बन्धी अनुभव काल्पनिक न होकर वास्तविक था। वह प्रेम और सौन्दर्य के चित्रकार थे। नारी के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उन्होंने प्रत्येक देश की युवतियों का जैसा मोहक वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने अपनी यात्राओं में केवल धनी लोगों के प्रासादों में ही सौन्दर्य नहीं देखा, निर्धन के नग्न निवास-स्थानों पर भी उनकी दृष्टि गई थी और उन्होंने वहाँ भी सौन्दर्य प्राप्त किया था। वह समदर्शी थे। निम्नश्रेणी की जातियों में भी वह एक सत्कवि

के समान कविता-सामग्री प्राप्त कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने जहाँ काश्मीर की सुन्दरी का वर्णन किया है वहाँ एक कहारिन के हाव-भाव भी उनकी काव्य-प्रेरणा के आधार बन गये हैं।

समय का वर्णन भी देव की रचनाओं में हुआ है। उनका ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल और अत्यन्त उत्कृष्ट है। उनके 'अष्टयाम' में घड़ी-पहर तक का विवेचन किया गया है। उत्सवों का वर्णन भी हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। उन्होंने प्रकृति के चित्र भी बड़ी सफलतापूर्वक अंकित किये हैं। बाह्य जगत के इन विशद व्यापारों के साथ-साथ उनकी दृष्टि साधारण बातों की ओर भी गई है। पतंग का उड़ना, फिरकी का नाचना, आतशबाजी का छूटना, बरात का सत्कार, हिन्दू घरों के रीति-रवाज, आदि का उन्हें अच्छा ज्ञान है। देव की निरीक्षण शक्ति अद्भुत है।

शृंगारिक चमत्कार के साथ देव में ज्ञान और वैराग्य की छाया भी मिलती है। अपनी उठती अवस्था में उन्होंने शृङ्गार को अपनाया, पर जीवन की संध्या में उन्होंने वैराग्य के गीत गाये हैं। उनकी कविता में ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान और मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण मिलता है। जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण उनकी रचनाओं में नहीं है। फिर भी हम यह कहेंगे कि उन्होंने जीवन के जिस पहलू के चित्र उतारे हैं वे सत्य हैं, खरे हैं, निर्दोष हैं। उन्होंने नवीन मार्ग का अनुसरण किया है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। छन्द की रचना में, विशेषणों की छाँट में, तुलनाओं की खींच में, कल्पनाओं की सृष्टि में, रूपकों के आयोजन में, घरेलू कहावतों की खोज में, नायिकाओं के हाव-भाव-प्रदर्शन में, संयोग और वियोग के स्वाभाविक वर्णन में तथा दाम्पत्य-प्रेम के निरूपण में वह अपने समय के कवियों में अद्वितीय हैं, अमर हैं।

देव की शैली रीतिकालीन शैली है। उन्होंने दोहा, कवित्त और सवैयों में अपने भावों को व्यक्त किया है। इनमें घनाक्षरियों की

संख्या अधिक है। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। उनकी समस्त कविता में कहीं भी कोई बुरा छन्द नहीं मिलता। उन्होंने एक ही छन्द में विविध काव्यांगों का जैसा सुन्दर संमिश्रण किया है वैसा अन्य कवियों के कई छन्दों में भी नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में ओज है, चोज है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कांति आदि उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं। उनके प्रायः प्रत्येक छन्द में कई प्रकार के अलंकार, गुण, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति और रस पाये जाते हैं।

देव की भाषा और शैली

देव की रचना में शब्दाडंबर बहुत कम है। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा पर उतना बल नहीं दिया जितना भाव पर। वास्तव में भाव-प्रबलता ही उनकी रचना का विशेष गुण है। फिर भी श्रुति-कटु शब्द उनकी रचना में नहीं के बराबर हैं। उनके विशेषण बड़े लम्बे होते हैं। 'नूपुर-संजुत, मंजु मनोहर, जावक रंजित कंज-से पायन' में उनके विशेषणों की छटा देखी जा सकती है। अशिष्ट एवं ग्रामीण शब्दों की संख्या उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत कम हैं।

देव की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। वह बड़ी ही श्रुतिमधुर है। उसमें मिश्रित वर्ण एवं रेफ-संयुक्त अक्षर कम हैं। टवर्ग का प्रयोग भी उन्होंने कम किया है। प्रान्तीय भाषाओं—बुन्देलखंडी, अवधी, राजपूतानी आदि—के शब्दों का व्यवहार भी उन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा न्यून मात्रा में किया है। उनकी कविता में पद-मैत्री तथा यमक और अनुप्रास मिलने का चमत्कार अच्छा दिखलाया गया है। पदों के बीच में अनुप्रास मिलाने के लिए एक से शब्दों को लाना उनकी भाषा की एक विशेषता-सी है। इसी कारण उन्होंने शब्दों की खींचतान और तोड़-मरोड़ भी नहीं की है। उनकी भाषा उनकी नायिकाओं की भाँति सालंकार है। अनुप्रास के फेर में पड़ने के कारण कहीं-कहीं उनके भाव अस्पष्ट और कठिन भी हो गये हैं। इसलिए

उनकी भाषा में रसाद्र ता, चलतापन और स्निग्ध-प्रवाह कम है। अक्षर-मैत्री के हिसाब से उन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द भी रखने पड़े हैं। इससे अर्थ और तड़क-भड़क में भी भद्दापन आ गया है। परन्तु जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से हो पाया है वहाँ की रचना सरस हुई है। उनकी ऐसी रचनाएँ मादकता का वातावरण उपस्थित करती हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी काव्य-भाषा मँजी हुई ब्रजभाषा है। अपने काव्य-कौशल से उन्होंने साहित्यिकता और ब्रजभाषा का स्वरूप ही निखार दिया है। शब्द-निर्माण में भी वह सिद्धहस्त हैं। शब्द का सुन्दर चयन तथा अलंकारों की सुन्दर योजना, भाव और भाषा का सुन्दर सामंजस्य उनकी रचना की मुख्य विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा टकसाली कही जा सकती है। उनकी रचनाओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सम्यक् व्यवहार सराहनीय हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव अपने युग के महान कलाकार केशव और महाकवि बिहारी दोनों से सफलतापूर्वक टक्कर ले सकते हैं। वह एक ही साथ केशव और बिहारी दोनों हैं। उनमें केशव का निखरा हुआ आचार्यत्व है और बिहारी का परिमार्जित काव्य-कौशल भी है। वह अपने काव्य में दोनों का प्रतिनिधित्व बड़ी सफलतापूर्वक करते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में दोनों को पचाकर ऐसा रूप धारण कर लिया है कि वह किसी से मिलते-जुलते नज़र नहीं आते। उनका मार्ग भिन्न है, उनके विषय भिन्न हैं। उनकी शैली किसी की शैली से मेल नहीं खाती, उनकी भाषा किसी की भाषा से समता नहीं रखती। उनकी अलंकार और रस-योजनाएँ भी पृथक हैं। इसका कारण उनकी मौलिकता है। देव अपने वर्ग के समस्त कवियों से अधिक मौलिक हैं। उनकी रचनाओं में विकास है, काव्य-प्रतिभा की अद्भुत आभा है। जिस विषय को उन्होंने उठाया है उसे उन्होंने अपनी सहज प्रतिभा से चमका दिया है। उन्होंने बिहारी और केशव

से अधिक ही लिखा है। जगत के अन्तरंग और बहिरंग का चित्रण भी उनके काव्य में दर्शनीय है। मानव-प्रकृति में उनकी गहरी पहुँच है। अतः उनमें महाकवि के सभी लक्षण हैं और इसलिए हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय है।

-१४-

घनानंद

जन्म सं० १६३० मृत्यु सं० १७१७

कविवर घनानंद की जीवनी, हिन्दी के अनेक कवियों की जीवनी की भाँति, अज्ञात और अधिकांश किंवदन्तियों पर अवलम्बित है। कहा जाता है कि वह भटनागर कायस्थ थे और बादशाह मोहम्मदशाह के व्यक्तिगत कर्मचारी थे, परन्तु श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने जो खोज की है उससे पता चलता है कि वह बादशाह मोहम्मदशाह के समय से पहले हुए हैं। उनका कहना है कि घनानंद का जन्म दिल्ली में सन १५७३ ई० के लगभग हुआ था। वह बचपन ही से विद्या-प्रेमी थे। उनके समय में फ़ारसी साहित्य का बहुत प्रचार था। इसलिए उन्होंने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया और कालांतर में वह अबुलफ़ज़ल के शिष्य हो गये। अबुलफ़ज़ल के सम्पर्क में आने के कारण उनकी प्रतिभा इतनी विकसित हुई कि वह फ़ारसी भाषा में कविता करने लगे। इससे उनकी ख्याति बहुत बढ़ गयी

जीवन-परिचय

घनानंद को बचपन ही से रास-लीला देखने का बड़ा शौक था। उस समय रास-मंडलियाँ प्रायः सभी जगहों में जाया करती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के अभिनय से भक्तों का मनोरञ्जन किया करती थीं। जब यह मंडलियाँ दिल्ली में आती थीं तब घनानंद

इन्हें बड़े चाव से देखते थे और बहुधा महीनों तक इनके व्यय का भार अपने ऊपर लेकर रास-लीला कराते थे। वह स्वयं भी रास-लीला में भाग लेते थे। इससे उन्हें हिन्दी का ज्ञान हो गया और कालांतर में वह पदों की रचना करने लगे। उसी समय उन्होंने संगीत-विद्या भी सीखी और अच्छे गायक हो गये।

रास-लीला के सम्पर्क से ही घनानंद के हृदय में कृष्ण-भक्ति की ओर अपार श्रद्धा उत्पन्न हुई और यह श्रद्धा यहाँ तक बढ़ी कि धीरे-धीरे उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। अंत में वह दिल्ली छोड़कर वृन्दावन चले गये और वहाँ निम्बार्क-सम्प्रदाय के किसी साधु से दीक्षा लेकर कृष्ण की उपासना में दृढ़ और मग्न हो गये। वह प्रायः बंसीवट के आस-पास ही रहा करते थे और वहीं किसी सघन वृक्ष के नीचे कृष्ण के ध्यान में मग्न रहा करते थे। जन-श्रुति है कि कभी-कभी तो वह कई दिन समाधि ही में बिता देते थे।

घनानंद के वैराग्य के सम्बन्ध में लोगों का यह भी कहना है कि जिस समय वह सम्राट् मोहम्मद शाह के मीर मुंशी थे, उस समय सुजान नाम की एक वेश्या से उनका प्रेम हो गया था। वह स्वयं संगीत-विशारदा थी और इसी के साथ रहने से उन्हें भी संगीत का व्यसन लग गया था। इसकी चर्चा एक दिन उनके एक प्रतिद्वन्द्वी ने सम्राट् से की। सम्राट् भी संगीत-प्रिय थे, इसलिए उन्होंने घनानंद से गाने के लिए कहा। घनानंद अपने ईर्ष्यालु कर्मचारियों का कुचक्र ताड़ गये और उन्होंने गाने से साफ इन्कार कर दिया। उनके इन्कार करने पर एक दरबारी ने कहा कि यदि सुजान वेश्या इनसे गाने के लिए कहे तो यह अवश्य अपना गाना सुना सकते हैं। यह सुनते ही सुजान दरबार में बुलाई गई और उसने घनानंद से गाने के लिए अनुरोध किया। इस प्रकार घनानंद को विवश होकर गाना पड़ा। गाते समय उन्होंने सम्राट् की ओर पीठ और सुजान की ओर मुँह करके गाया। गाना सुनकर सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ, परन्तु दरबार के

शिष्टाचार की अवहेलना को वह सहन न कर सका। फलतः सम्राट् का आनन्द क्रोध में परिणत हो गया और उन्होंने घनानंद को दिल्ली से तुरन्त निर्वासित कर दिया। घनानन्द बिना कुछ कहे-सुने सुजान के घर चले आये और उससे भी अपने साथ चलने के लिए आग्रह करने लगे, परन्तु वह किसी प्रकार तैयार न हुई। इस क्रूर व्यवहार का घनानंद के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह वृन्दावन चले गये।

घनानंद के वैराग्य के सम्बन्ध में इस कथा का कोई महत्त्व नहीं है। अब तक घनानंद के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं उनसे यह कथा अप्रामाणिक प्रतीत होती है। परन्तु उनकी रचनाओं में 'सुजान' शब्द इतनी बार आया है कि उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संभव है इस नाम की कोई स्त्री रही हो और उसने घनानंद के प्रेम को ठुकरा दिया हो। यह भी हो सकता है कि रास-लीला की नारी (राधा) ही उनकी सुजान हो। वस्तुतः सुजान उनके प्रेम का ही प्रतीक है और उन्होंने इस नाम का प्रयोग राधा और कृष्ण दोनों के लिए किया है।

घनानंद के वैराग्य का कारण जो हो, इसमें तो संदेह ही नहा किया जा सकता कि दिल्ली छोड़कर वृन्दावन आने पर वह राधा-माधव की उपासना में इतने निमग्न हो गये कि उन्होंने फिर किसी से कोई सम्बन्ध न रखा और यहीं सन् १६६० ई० में उनकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि औरङ्गजेब के समय में कुछ मुसलमानों ने मिलकर उनका वध किया। किसी-किसी के मतानुसार नादिरशाह के आक्रमण के समय मुसलमानों द्वारा उनका वध सिद्ध होता है, परन्तु इतिहास से यह सिद्ध होता कि नादिरशाह के सिपाहियों ने मथुरा पर भी आक्रमण किया था। ऐसी दशा में उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

घनानंद के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में जैसा अधूरा और अप्रमाणिक ज्ञान इस समय हिन्दी जगत को है, वैसा ही उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी है। आधुनिक खोजों से केवल इतना पता चलता है कि उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की है जिनमें से घनानंद कवित्त, कृपाकन्द निबन्ध इश्कलता, सुजान रागमाला, वियोग-वेली, नेह-सागर, विरह-लीला, प्रेम-पत्रिका, बानी आदि के प्रमाण मिलते हैं। इन ग्रंथों में से अधिकांश की रचना वृन्दावन में हुई है।

रचनाएँ

घनानंद अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से थे। उन्हें न तो शास्त्र-सम्पादन की इच्छा थी और न रीतिबद्ध कवियों के मार्ग का अनुसरण करने की अभिलाषा। उन्होंने दोनों का खुलकर बहिष्कार किया और अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया। रीति-काल के प्रथम दो वर्ग के कवि लौकिक प्रेम के उपासक थे। उनकी रचनाएँ अधिकांश बहिर्वृत्ति के निरूपण से ओत-प्रोत थीं। उनमें कला-पक्ष प्रधान था, भाव-पक्ष दब-सा गया था। घनानंद ने भाव-पक्ष को अपनी रचनाओं में प्रधान स्थान दिया और उन्हें अन्तर्मुखी बनाया। अपनी रचनाओं में पांडित्य प्रदर्शन करना और उनके साथ खेल करना उनका उद्देश्य नहीं था। वह विशुद्ध प्रेम के उन्मत्त गायक थे। उनकी कविता ने ही उनका निर्माण किया था। उनका कहना था :—

घनानन्द की काव्य-साधना

'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

काव्य में भाषा और भाव के सुन्दर सामञ्जस्य के महत्व को उन्होंने भलीभाँति समझा था। इसीलिए उनमें अपनी अनुभूतियों को पाठक के हृदय में उतारने की अभूतपूर्व क्षमता थी। वह मानवीय भावों के बड़े ही कुशल चित्रकार थे। अपनी अनुभूतियों के चित्रण में

उन्होंने लाक्षणिक और व्यंगमूलक पद्धति का अनुसरण करके भाषा की गति की विविध बाधाओं को दूर कर दिया था। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था और वह उनके भावों की अनुगामिनी थी।

घनानंद रीतिमुक्त कवि थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें रीति-बद्ध रचनाओं की प्रेरक प्रवृत्तियों से, कृष्ण और गोपियों के उन्मुक्त प्रेम के लौकिक स्वरूप से ही शक्ति मिली थी; परन्तु उन्होंने उन प्रवृत्तियों को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया। उन्होंने उनका संस्कार किया और उन्हें बहुमुखी से अन्तर्मुखी बनाया। ऐसा करने में उन्होंने किसी विदेशी शैली का अनुसरण नहीं किया। कबीर अथवा जायसी की भाँति उन्होंने भारतीय उपासना के क्षेत्र में, विदेशीपन को स्थान नहीं दिया। उन पर फारसी-काव्य की प्रेम-पद्धति और सूफियों की रहस्यमयी विरह-पद्धति का प्रभाव अवश्य था, परंतु गम्भीर अध्ययन के पश्चात् उनकी रचनाओं से यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में दोनों पद्धतियों को अपने ढंग से, भारतीय पद्धति के अनुसार अपनाया है। उन्होंने निर्गुण का आधार लेकर जहाँ रहस्यमयी रचनाएँ की हैं वहाँ उनमें कृष्ण ही उनके लक्ष्य हैं। कबीर और जायसी का उद्देश्य था रहस्य-प्रदर्शन। घनानंद का लक्ष्य रहस्य-प्रदर्शन नहीं था। वह भारतीयता के उपासक और भारतीय कवि थे। उन्होंने होली और दीपावली, दो मुख्य भारतीय त्योहारों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है।

घनानंद प्रेम के उन्मुक्त गायक थे और राधा तथा कृष्ण ही उनके आलम्बन थे। परन्तु अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उन्होंने सुरतांत, विपरीत रति आदि से अपनी रचनाओं को अपवित्र नहीं किया। उनकी राधा और उनकी गोपियाँ वासना की मूर्ति नहीं हैं। उनमें त्याग है, तपस्या है, अलौकिक प्रेम की पीर है। कृष्ण के प्रति उनके हृदय में जो प्रेम है उसमें भोग-विलास की लिप्सा नहीं, वरन् त्याग, संयम और उत्सर्ग की भावना है। घनानंद भारतीय शिष्टाचार

के रक्षक और पोषक हैं। उनकी रचनाओं से हृदय को उत्तेजना नहीं, शान्ति मिलती है।

घनानंद की रचना का थीम है विरह-निवेदन—उनका सुजान से वियोग। प्रेम के इसी पक्ष को चित्रित करने में उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ है। उनकी रचना में 'प्रेम की पीर' इतनी घनीभूत है कि उनके प्रत्येक शब्द में वेदना, कसक और टीस भरी हुई है। विरह से उन्हें इतना मोह इतना प्रेम है कि उनका समस्त कवि-जीवन विरहमय हो गया है। उन पर विरह का इतना प्रभुत्व है कि वह उन्हें अन्य विषयों की ओर भटकने ही नहीं देता। बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों में यह बात नहीं पाई जाती। उनकी काव्य-प्रतिभा विभिन्न विषयों की ओर उन्मुक्त हुई है। वह कभी संयोग-पक्ष का चित्रण करते हैं, कभी वियोग-पक्ष का दिग्दर्शन कराते हैं; कभी ऋतु-वर्णन करते हैं, कभी भक्तों की तरह कृष्ण और राधा की वन्दना करते हैं और कभी उनके अंगों की शोभा पर ही उठते हैं; पर घनानंद की प्रतिभा समस्त परिस्थितियों में एक ही मार्ग का अनुसरण करती है। वह सर्वदा विरह का ही वर्णन करते हैं। विरह उनके रोम-रोम में समा गया है, इतना अधिक समा गया है कि संयोग में भी उससे पीछा नहीं छूटता :—

यह कैसो संजोग न बूझि परै, जु वियोग न क्यौं हू विछोहत है।

वियोग के प्रति उनमें इतनी ममता का एक कारण है। वह यह समझते हैं कि वियोग ही में प्रेम का साफल्य निहित है। वस्तुतः है भी यह सत्य। वियोग की अग्नि और वेदना के अश्रु से ही प्रेम पवित्र होता है। उसी की सजीव साधना से संयोग का महासुख मिलता है। जो वियोगी नहीं बन सकता, जो वियोग की ज्वाला में जल नहीं सकता, वह सच्चा प्रेमी भी नहीं बन सकता। वियोग प्रेम की कसौटी है। प्रेमी को इस कसौटी पर अपने आप को कसना पड़ता है। उसे वियोग से प्रेम करना पड़ता है। दादू कहते हैं:—

विरहा मेरा मीत है, विरहा वैरी नाहिं।
विरहा को वैरी कहइ, सो 'दादू' किस माहिं॥

कबीर कहते हैं:—

कबिरा हँसना दूर कर, रोने सौं कर प्रीति।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

प्रिय को पाने के लिए रोना पड़ता है, वियोग को अपनाना पड़ता है। वियोग प्रेम का सार है, जीवन है। यह वह तत्व है जो हमारी आत्मा की साधना को घनीभूत कर देता है; यह वह अग्नि है जिसमें मन का विकार भस्म हो जाता है। दादू कहते हैं:—

विरह-अगिन में जल गये, मन के मैल विकार।

घनानंद ने अपने मन के विकार को इसीलिए विरह की अग्नि में जलाया है। वियोग से इसीलिए उन्हें अखंड प्रेम है! हम पहले कह आये हैं कि घनानंद अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में बाह्य रूप को उतना अधिक स्थान नहीं दिया जितना आन्तरिक रूप को। उनके प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उनकी जिन रचनाओं में प्रकृति का चित्रण मिलता है उसके अध्ययन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने उनमें प्रकृति के हृदय का और प्रकृति द्वारा मानव-हृदय पर पड़नेवाले प्रभावों का ही चित्र खींचा है। मानवी भावनाओं से प्राकृतिक सौंदर्य की ओर मन को ले जाकर भावनाओं का परिष्कार करने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने कभी भी मानव-सौंदर्य का प्रकृति-सौंदर्य से समन्वय करने का प्रयत्न नहीं किया। विद्यापति की भाँति उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य से मानवीय भावनाओं का परिष्कार करने की कभी भी चेष्टा नहीं की। वह वियोगी थे। अतएव उन्होंने वियोग के आँसुओं से ही प्रकृति का संस्कार किया है, प्राकृतिक सौंदर्य से प्रेम की भावना का नहीं।

घनानंद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। बचपन से ही रास-लीला में भाग लेने तथा वैराग्य होने पर वृन्दावन में बस जाने के कारण उन्हें ब्रजभाषा का इतना सुन्दर ज्ञान हो गया था कि भाषा और शैली वह उनकी अनुगामिनी-सी हो गयी थी। भाव और भाषा का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य उनकी रचनाओं में मिलता है वैसा रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं में मिलना दुर्लभ है। उन्होंने ब्रजभाषा को शक्ति दी है और उसे काव्योचित बनाया है। उनकी रचनाओं में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी बहुत सुन्दर हुआ है और स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर उनकी भाषा सामने आई है। उन्होंने अपने भाव-प्रकाशन में केवल वाक्य-ध्वनि और पद-ध्वनि ही से नहीं, पदांश-ध्वनि से भी काम लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि घनानंद भाषा के धनी थे। उनकी भाषा उनके भावों के अनुकूल और हृदय पर चोट करनेवाली होती थी। उनमें भाषा की गति को भावों के अनुकूल मोड़ने की पर्याप्त क्षमता थी। वह ब्रजभाषा-प्रवीण थे ही, भाषा-प्रवीण भी थे। विदेशी शब्दों को अपनाने की अपेक्षा बोलचाल के शब्दों, मुहावरों, कहावतों तथा नवीन व्यंजनाओं द्वारा भाषा की शक्ति को घनानंद ने बहुत बढ़ाया है। एक उदाहरण लीजिए:—

'रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में'

इसमें 'निचुरत' शब्द बोल-चाल का शब्द होने पर भी कितना अर्थपूर्ण है, इसे कवि-हृदय ही समझ सकता है। ऐसे सार्थक शब्दों से घनानंद की रचना भरी पड़ी है। परन्तु भाषा का इतना धनी होने पर भी उन्होंने भाव से प्रधान भाषा को कभी नहीं होने दिया। यही उनकी विशेषता है। वह मुहावरों का प्रयोग करते हैं भावनाओं की तीव्रता के लिए; कहावतों का प्रयोग करते हैं भावनाओं को बल देने के लिए। उनकी भाषा में प्रयास नहीं, स्वाभाविकता है, मिठास है। वह

हमें अनुप्राणित करती है, हमारी भावनाओं को जगाती है। कवियों की भाषा की सफलता इसी में सन्निहित रहती है।

शैली के विचार से घनानंद की रचना रीतिबद्ध परम्परा से मुक्त है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अलंकृत शैली का बराबर प्रयोग किया है, पर उसके द्वारा उन्होंने अपने पांडित्य-प्रदर्शन की चेष्टा नहीं की है। उनकी रचनाओं में उपमा है, उत्प्रेक्षा है, अतिशोक्ति है, अत्युक्ति है, परन्तु उनकी वाणी और भाव के प्रबल वेग के सौंदर्य के सामने इन अलंकारों की ज्योति धूमिल एवं मंद पड़ जाती ह। इस प्रकार रीतिकालीन कवियों की सूची में आने पर भी उन पर उस वर्ग का प्रभाव बहुत कम देखने में आता है और यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उनकी व्यंजना-पद्धति कितनी स्वाभाविक, कितनी सरस और कितनी मार्मिक है। कहीं-कहीं उनकी कल्पना सूक्ष्म अवश्य हो गई है, परन्तु उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। यही कारण है कि वह अन्य कवियों की अपेक्षा अपने हृदय की स्थिति का सच्चा आभास देने और उससे अपने पाठकों का हृदय गुदगुदाने में अधिक सफल हुए हैं।

घनानंद की शैली की एक विशेषता और है वह यह कि उन्होंने अपने भावों के स्पष्टीकरण में 'विरोधाभास' का अत्यधिक सहारा लिया है और उनकी सारी रचना इससे भरी पड़ी है। इसलिए साहस-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न दिखाई दे उसे बेखटके उनकी कृति से पृथक किया जा सकता है। उनकी रचनाओं में अर्थ और शब्द दोनों प्रकार का विरोध है, परन्तु केशवदास की भाँति उनका विरोध पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं है। उन्होंने विरोधाभास द्वारा अपने हृदय के भावों को अधिक मार्मिक बनाया है और इसका, बड़ी सफलता-पूर्वक, आदि से अन्त तक अपनी समस्त रचनाओं में निर्वाह किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि घनान्द अपने समय के स्वतंत्र

कवि थे। उन्होंने तत्कालीन किसी पद्धति का अन्धानुकरण नहीं किया। वह भाषा के धनी थे, भावलोक के स्वामी थे। वियोग की वेदना के चित्रण में उनकी समता करनेवाला उस समय कोई न था। उन्होंने हिन्दी-काव्य के विदेशीपन को भारतीय स्वरूप देकर उसका संस्कार किया। उनके समय में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की उपासना होती थी। उन्होंने इन दोनों का सुन्दर समन्वय अपनी रचनाओं में किया। इस दृष्टि से घनानंद का स्थान हिन्दी-साहित्य में अमर है। उनकी रचनाओं का रस लेने के लिए हृदय चाहिए।

—१५—

गोस्वामी दीनदयालु गिरि

जन्म सं० १८५९ *मृत्यु सं० १९१५*

जीवन-परिचय

गोस्वामी दीनदयालु गिरि का जन्म सम्वत् १८५९ में शुक्रवार वसन्त पञ्चमी को काशी के गायघाट मुहल्ले में हुआ था। वह पाठक ब्राह्मण थे। उनके पिता का गुरु-घराना देहली विनायक के मठ में था। गोस्वामी कुशागिरि उनके पिता के गुरु थे। वह बड़े विद्वान और कृष्ण-भक्त थे। देहली विनायक के आस-पास उनकी भारी जमींदारी थी। साढ़े छः वर्ष की अवस्था में जब दीनदयालु मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गये तब उनके पिता ने भी उन्हें अपने गुरु के चरणों में अर्पित कर छः महीने पश्चात् ही वैकुण्ठ की यात्रा की। इस प्रकार इतनी छोटी अवस्था में ही दीनदयालु अनाथ हो गये। पर ईश्वर की कृपा से उन्हें अनाथों के से कष्ट नहीं झेलने पड़े। शिष्य-वत्सल गोस्वामी कुशागिरि माता-पिता की अपेक्षा अधिक प्यार से उनका पालन-पोषण करने लगे।

उन्होंने उन्हें स्वयं पढ़ाया-लिखाया। कुशागिरि बड़े सदाचारी, ब्रह्मचर्य परायण भगवद्भक्त थे। अतः उनके जीवित आदर्शों का बालक दीनदयालु पर बड़ा ही उत्तम प्रभाव पड़ा। उनकी देख-रेख में दीनदयालु ने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और थोड़े ही दिनों में वह कविता करने लगे। बुद्धि प्रखर थी, मठ का जीवन था, साधु-संन्यासियों का सत्संग होता रहता था। इसलिए साहित्य-साधना के साथ ही भक्ति और वैराग्य की भावना भी जड़ पकड़ती गयी। फलतः बीस वर्ष की अवस्था होने पर उन्होंने संन्यास ले लिया। इस प्रकार वह गोस्वामी दीनदयालु गिरि हो गये। उनका नाम गुरु का ही रखा हुआ था, इसलिए उनके संन्यास लेने पर नाम परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। केवल गुरु-कुल की 'गिरि' उपाधि उन्होंने ग्रहण की।

दीनदयालु के अतिरिक्त गोस्वामी कुशागिरि के दो और चेले थे। जब सं० १८९० के लगभग गोस्वामीजी का स्वर्गवास हो गया तब इन दोनों चेलों में सम्पत्ति के बटवारे के लिए झगड़ा होने लगा। दीनदयालु गिरि ने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया, पर उन लोगों पर उनके कहने का कोई प्रभाव न पड़ा। इससे दुखी होकर वह रामेश्वर की ओर चले गये और छः माह पश्चात् वहाँ से लौटने पर मटौली के मठ में रहने लगे। काशी उन्हें बहुत प्रिय थी। इसलिए वह वहाँ बराबर आया करते थे और राजघाट पर ठहरते थे। उनकी आमदनी थोड़ी थी, पर जो कुछ उन्हें मिलता था उसी के अनुसार वह जीवन-निर्वाह करते थे। उन्होंने अपने आर्थिक संकटों को दूर करने के लिए किसी राजा का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया। उस समय के काशी-नरेश उन्हें बहुत मानते थे। भारतेन्दु के पिता कवि गिरिधरदास से भी उनकी अच्छी मित्रता थी। उनके यहाँ वह बराबर आया-जाया करते थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह काशी में मणिकर्णिका-पीठ के निकट एक वृक्ष के नीचे तपस्या में लीन रहा करते थे। यहीं पचपन

वर्ष की अवस्था में संवत् १६१५ की निर्जला एकादशी को उन्होंने ऐहिक लीला समाप्त की।

गिरि की रचनाएँ

दीनदयालु गिरि बाल्यावस्था से ही काव्य-प्रेमी थे। उनमें विलक्षण प्रतिभा थी। दृष्टान्तवाली स्फुट कविताएँ उन्होंने ग्यारह वर्ष की ही अवस्था में लिखी थी। सत्रह वष की अवस्था में उन्होंने पुस्तक-प्रणयन आरंभ किया। उनका पहला ग्रंथ था 'दृष्टान्त तरंगिणी'। यह ग्रंथ उन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में समाप्त किया था। इस ग्रंथ को पढ़कर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह बीस वर्ष के एक नवयुवक की लिखी कविता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि जिसे बाल-कविता कहते हैं उसे दीनदयालु गिरि ने कभी लिखी ही नहीं। बाल्यावस्था से ही वह गंभीर, विद्वान और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी बातें अलंकार युक्त होती थीं। बात-बात में श्लेष, मुद्रालंकार, शब्दालंकार आदि की वह झड़ी लगा देते थे। वह जन्मजात कवि थे। उन्होंने सं० १८७६ में विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टान्त-तरंगिणी, सं० १८८८ में अनुराग बाग, सं० १६०६ में वैराग्यदिनेश और सं० १६१२ में अन्योक्ति कल्पद्रुम की रचना की। इस सूची के अनुसार उनका कविता काल सं० १८७६ से सं० १६१२ तक माना जाता है। 'विश्वनाथ नवरत्न' में शिव की स्तुति है; 'दृष्टान्त तरंगिणी' में उनके नीति सम्बन्धी दोहे हैं, 'अनुराग बाग' में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तों में वर्णन हुआ है, 'वैराग्यदिनेश' में ऋतुओं की शोभा और ज्ञान वैराग्य आदि का वर्णन है और 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' में उनकी अन्योक्तियाँ हैं। वह हिंदी-साहित्य में अपनी इन्हीं अन्योक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। यह ग्रंथ चार शाखाओं में विभाजित किया गया है। पहले भाग में अधिकांश ऋतु से संबंध रखनेवाले विषयों का वर्णन है, दूसरे में खनिज, पेड़, पक्षियों और पशुओं का वर्णन है, तीसरे में प्रायः मनुष्य जातियों का वर्णन है और चौथे में अधिकांश मानसिक भावों तथा

विचारों का वर्णन है। इनमें अन्योक्तियाँ ही कही गयी हैं। उनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुईं।

दीनदयालु गिरि की इन पुस्तकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह हिंदी के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। बाल्यावस्था से ही उन्होंने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और अंत तक वह कविता-प्रेमी बने रहे। उनकी रचनाएँ उनकी परिपक्व और प्रौढ़ बुद्धि की परिचायक हैं। इनसे उनके विस्तृत और गंभीर अनुभव का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही यह भी पता चल जाता है कि उन्हें संस्कृत और हिंदी साहित्य का भी असाधारण ज्ञान था। काव्य-रचना की उनमें अद्भुत शक्ति थी।

गिरि की काव्य-साधना

दीनदयालु गिरि ने नीति पर अधिक कविता की है। 'अनुराग बाग' की रचना शृंगार रस प्रधान है। पर उसमें उन्होंने अपनी भक्ति-भावना के अनुकूल राधा और कृष्ण का ही शृंगार वर्णन किया है। अपने इस प्रकार के वर्णन में उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। अन्योक्ति कल्पद्रुम में उन्होंने अपने विस्तृत लोकानुभव के आधार पर कुंडलियों में नीति की शिक्षा दी है। उनकी कविता प्रौढ़ विचारों से युक्त माधुर्य और प्रसाद दोनों गुणों से परिपूर्ण है। जैसा विषय है वैसे ही उपयुक्त छंदों का उन्होंने चुनाव किया है। उनके पहले ब्रह्मभट्ट गिरिधर कविराय ने कुंडलियों द्वारा नीति-शिक्षा दी थी और उनका प्रचार भी, रहीम के दोहों की भाँति, अत्यधिक था और अब भी है। उन्हें लोग कहावत की भाँति अब भी कहा करते हैं। यह लोकप्रियता दीनदयालु गिरि को नसीब नहीं हुई। इसका कारण शैली की विभिन्नता है। गिरिधर कविराय की नीति-शिक्षा सीधी-सादी भाषा में है। उसमें रचना चमत्कार नहीं है। रहीम और वृन्द की रचनाएँ भी इसीलिए लोकप्रिय हैं। पर दीनदयालु गिरि की कथन-शैली इससे

भिन्न है। वह दूसरों के बहाने लोगों को उपदेश देते हैं। हिंदी साहित्य में इस शैली को अन्योक्ति कहते हैं। अन्योक्तियों द्वारा दी हुई शिक्षा कर्णप्रिय, सुखद और प्रभावशाली अवश्य होती है, पर सीधी-सादी भाषा में दी गई शिक्षा की अपेक्षा साधारण जनता में उसका प्रचार कम होता है। अन्योक्तियों का प्रचार लोकोक्तियाँ के स्थान पर नहीं हो सकता। दीनदयालु गिरि ने अन्योक्तियाँ लिखकर हिंदी-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति की है और वह हिंदी के प्रथम और अन्तिम अन्योक्तिकार हैं। एक अन्योक्ति देखिए:—

प्यारे करै गुमान जनि सुन प्रसून सिख मोरि।
तो समान यहि बाग में फूल झरे हैं कोरि॥
फूल झरे है 'कोरि' बहोरि किते विनसैहैं।
या बहार दिन चार गये पुनि ग्रीषम ऐहैं॥
बरनै दीनदयाल न कर सारंगहि न्यारे।
तो गुन जाननहार बड़े हित कारक प्यारे॥

इस अन्योक्ति में फूल का संकेत करके वस्तुतः गुणी को उपदेश दिया गया है। ऐसा उपदेश अत्यन्त व्यापक, अर्थगर्भित, मार्मिक और प्रभावपूर्ण होता है। दीनदयालु गिरि ने ऐसी अन्योक्तियाँ लिखकर हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया है। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए गये हैं तथापि वे मौलिक से जान पड़ते हैं। अलंकारों में अतंर्लापिका, बहिर्लापिका की छटा भी अपने स्वाभाविक रूप में मिलती है। इनके अतिरिक्त अनुप्रास, श्लेष, यमक, अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्य्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, समासोक्ति और सूक्ष्मालंकार आदि भी पाये जाते हैं, क्योंकि इनमें कुछ समान बातें व्यंग से ध्वनित होती हैं। छंदों में दोहा रोला, कुंडलिया, सवैया आदि मिलते हैं।

दीनदयालु गिरि की भाषा व्रजभाषा है। इस भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। उनकी सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। उनकी भाषा मनोहर, रसीली, प्रसाद और माधुर्य-गुणयुक्त, प्रभावपूर्ण और प्रवाहमय है। उनकी शब्दावली जोरदार होती है। शब्दों का तोड़-मरोड़ उनकी रचनाओं में नहीं है। उनकी रचनाओं में पूरबीपन भी मिलता है और अव्यवस्थित वाक्य भी मिलते हैं, पर बहुत कम। उनका कोमल-व्यंजक पद-विन्यास पर जैसा अधिकार है, वैसा ही शब्द-चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी उन्होंने अत्यधिक की है। उन्होंने जिस प्रकार अपनी भावुकता का परिचय हमें दिया है, उसी प्रकार अपने चमत्कार-कौशल का भी। इसलिए यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनमें कला-पक्ष प्रधान है अथवा हृदय-पक्ष। उन्होंने दोनों को प्रायः अलग-अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं को उन्होंने चमत्कार-प्रवृत्ति से बहुत बचाया है और अनुप्रासयुक्त सरस कोमल पदावली का सर्वत्र उपयोग किया है।

गिरि की भाषा और शैली

इस प्रकार हम देखते हैं कि दीनदयालु गिरि की रचनाएँ काव्य के दोनों पक्षों से परिपूर्ण हैं और हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनमें कल्पना की उड़ान नहीं है, भावों का अन्तर्द्वन्द नहीं है, शब्दों की कलाबाज़ी नहीं है। उनमें जीवन-निर्माण की कला है। उनका अन्योक्ति कल्पद्रुम हिन्दी-साहित्य में एक अनमोल रत्न है। हिन्दी में जब तक इन रत्नों को परखनेवाले रहेंगे तब तक हमें उनसे स्फूर्ति और चेतना मिलती रहेगी।

—१६—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म सं० १९०७ *मृत्यु सं० १९४१*

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल ऋषि-पंचमी, संवत् १९०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ-परिवार में हुआ था। उनके पूर्व-पुरुष सेठ बालकृष्ण कम्पनी के शासन-काल में दिल्ली से कलकत्ता चले गये थे और वहीं व्यापार करते थे। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। वह वैष्णव थे और ब्रजभाषा में कविता करते थे। उनका उपनाम गिरिधरदास था। उनके दो ही काम थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। कहते हैं, पाँच भक्ति-पद बनाये बिना वह भोजन नहीं करते थे। उन्होंने ८० ग्रंथ लिखे थे। उनके इन ग्रन्थों में से बहुत-से इस समय अप्राप्य हैं, पर जो हैं उनमें उन्होंने काव्य-कौशल की ऐसी छटा दिखाई है कि साधारण पाठकों के लिए उसका समझना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

जीवन-परिचय

भारतेन्दु बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन में वह बड़े नटखट थे, पर दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गये। ९ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इसके बाद ही उनके पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर चल बसे। इस प्रकार आरम्भ ही से माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन में प्रवेश किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी वह एक मौलवी से पढ़ते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वींस कालेज में प्रविष्ट हुए, पर वहाँ उनका जी न लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रति-दिन उनकी अभिरुचि बढ़ती

जा रही थी, इसलिए अधिक दिनों तक उनका नियमित रूप से पढ़ना-लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था में लाला गुलाब राय की सुपुत्री मन्नो देवी से उनका विवाह हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था में सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। वहाँ से लौटने पर उन्होंने साहित्य और समाज की सेवा का भार अपने ऊपर लिया। कभी-कभी वह यात्रा पर भी जाते रहे। इससे उनका अनुभव बहुत बढ़ गया। हिन्दी, अँगरेज़ी और उर्दू के अतिरिक्त वह मराठी, गुजराती, बँगला तथा संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हो गये। वह बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। यद्यपि एक विद्यार्थी की भाँति उन्होंने किसी पाठशाला अथवा कालेज में विद्याध्ययन नहीं किया तथापि सरस्वती की आराधना में वह आजीवन संलग्न रहे। उन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की तथा कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उन्होंने कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं जिनमें वह स्वयं पारितोषिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र इंटरमीजिएट कालेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारों से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, तुक्कड़ सभी उन्हें जानते थे और उनके दरबार में सम्मान पाते थे। राजा से रंक तक उनकी मित्र-मंडली में थे। इन साहित्यकारों से जहाँ उन्हें साहित्य-सेवा की प्रेरणा मिलती थी, वहाँ उनको तथा साहित्य-सेवियों को साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन भी मिलता था। भारतेन्दु इन साहित्य-सेवियों में सर्वोपरि थे। हिन्दी-साहित्य की नौका के वही प्रमुख माँझी थे। इसलिए साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने में उन्हीं का हाथ रहता था। उनके पास सरस्वती थी, लक्ष्मी थी; सरस्वती की सेवा में उन्होंने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया।

धन का मोह उनके साहित्य-प्रेम में कभी बाधक नहीं हुआ। साहित्य की उन्नति के लिए जिसने जब जो माँगा, उन्होंने मुक्तहस्त होकर दान किया। दीन-दुखियों के लिए भी उनका दरबार बराबर खुला रहता था। निस्स्वार्थ भाव से वह सबकी सहायता करते थे। उदारता तो उनमें इतनी थी कि वह किसी के माँगने पर अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी दे डालते थे। उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई, गोकुलचन्द, ने समस्त जायदाद का बटवारा करा लिया।

जायदाद का बटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दानशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उन पर काफ़ी ऋण हो गया। ऋण चुकता करने में उनकी बहुत-सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल में ही निकल गई। इससे उन्हें कुछ मानसिक कष्ट रहने लगा। मुक्तहस्त प्राणी बंधन में आने पर मृत्यु की ही आकांक्षा करता है। भारतेन्दु की भी यही दशा हो गई। आर्थिक कष्टों की चिन्ता से उनका शरीर शिथिल होने लगा। अन्त में उन्हें क्षय-रोग हो गया। इस रोग से वह मुक्त न हो सके। डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की चिकित्सा मृत्यु के अभिशाप से उनकी रक्षा न कर सकी। इस प्रकार १५ माघ कृष्ण सं० १९४१ को हिन्दी-साहित्य का वह दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। अपने १६-१७ वर्ष में साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिंदी-साहित्य को जो दान किया उसका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। उनकी रचनाएँ युगान्तर रचनाएँ हैं। उनकी समस्त रचनाएँ चार प्रकार की हैं :—

1. नाटक—भारतेन्दु की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मौलिक और

अनूदित नाटक हैं। उनके मौलिक नाटक ६ हैं—१. सत्य हरिश्चन्द्र, २. चन्द्रावली, ३. भारत-दुर्दशा, ४. नीलदेवी, ५. अन्धेरनगरी ६. वैदकी हिंसा-हिंसा न भवति, ७. विषस्य विषमौषधम् ८. सतीप्रताप और ६. प्रेमयोगिनी। इनमें से अन्तिम दो अपूर्ण हैं इन नाटकों के अतिरिक्त उनके ८ अनूदित नाटक हैं जो इस प्रकार हैं—१. मुद्राराक्षस, २. धनञ्जय विजय, ३. रत्नावली नाटिका, ४. कर्पूरमंजरी, ५. विद्या-सुन्दर, ६. भारत जननी, ७. पाखंड विडम्बन और ८. दुर्लभबन्धु। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद हैं, चौथा प्राकृत का अनुवाद है, पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बँगला के अनुवाद हैं और अन्तिम अँगरेजी का अनुवाद है। यह अपूर्ण भी है। दो अनूदित नाटक और हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

२. काव्य—नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। उनके भक्ति-काव्य-सम्बन्धी ४१ ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं और भक्ति-भावना से भरे हैं। उनके शृंगार-काव्य भी कम नहीं हैं। होली, मधुमुकुल, प्रेम-फुलवारी, सतसई आदि उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी-विजय, वैजयन्ती, भारत-वीणा, सुमनांजलि आदि उनकी राष्ट्रीय और राजभक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

३. इतिहास—भारतेन्दु ने कई इतिहास-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, अग्रवालों की उत्पत्ति, दिल्ली-दरबार-दर्पण आदि उनके ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

४. निबन्ध और आख्यान—भारतेन्दु ने निबन्ध और आख्यान भी लिखे हैं; पर इनमें से अधिकांश अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालय और लीलवती उनके लिखे आख्यान हैं। परिहास पंचक में उनका हास्य रस-सम्बन्धी गद्य है। परिहासिनी में छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं।

भारतेन्दु-युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में नव जागरण का

युग माना जाता है। इस युग से रीतिकाल की परम्पराओं का अवसान और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सन् सत्तावन की क्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय साहित्य में यह घटना आँधी की तरह आई और आँधी की तरह ही निकल गयी; पर इसने प्रत्येक समाज की नस-नस को हिला दिया। मानव हृदय में जो भावनाएँ सुषुप्त थीं उन्हें इसने जागृत कर दिया। देश का कोना-कोना नई चेतनाओं से, नई स्फूर्तियों से, क्रियाशील हो गया। भारतेन्दु-युग की यही पहली विशेषता है। इस युग ने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के अनुकूल बनाकर साहित्य में उन्हें स्थान दिया।

भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ

भारतेन्दु-काल की दूसरी विशेषता है विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करके हिन्दी के प्रति जनता में अनुराग उत्पन्न करना और हिन्दी-साहित्य को लोक-प्रिय बनाना। रीतिकालीन साहित्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। वह रईसों, राजाओं और महाराजाओं के मनोरंजन तक ही सीमित था। इसलिए उस समय साहित्य के केवल एक अंग की—श्रृंगार और अलंकार से लदी हुई कविता की—पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दुःख-सुख के साथ, कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतेन्दु-युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंस प्रकोष्ठों से निकालकर अनेकरूपता प्रदान की।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता है अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीतिकाल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था। इसलिए अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए श्रृङ्गारी रचनाओं में प्रवृत्त कवि सामयिकता तथा वास्तविकता से कोसों दूर जा पड़े थे। सन् सत्तावन की आँधी ने रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाताओं का गढ़ तोड़ दिया। इस प्रकार

विवश होकर उन्हें जनता के सम्पर्क में आना पड़ा और उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृंगार की प्रधानता थी, वहाँ लोक-भावनाओं की निर्मल धारा वहने लगी।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता है सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्धन में प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य गोष्ठी-साहित्य था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मंडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा रखता था। वस्तुतः वह अपनी इष्टमित्र-मंडली को सुनाने के लिए ही लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के घर पर लेखकों और कवियों की वैठक होती थी। ऐसी वैठकों में हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर वाद-विवाद होता था और नवीन रचनाओं पर टीका-टिप्पणी होती थी। यद्यपि उस समय की और आज की आलोचना में आकाश-पाताल का अन्तर था, तथापि उसमें व्यक्तिगत द्वेष की भावना नहीं थी। प्रत्येक-कवि और लेखक अपने सम्वन्ध में की गई आलोचना को सहर्ष स्वीकार करता था और उसके आलोक में अपनी साहित्य-साधना का मार्ग निश्चित करता था। भाषा का परिमार्जन और संस्कार, काव्य-शैलियों की नवीनतम रूप-रेखा, काव्य-विषयों की छान-बीन आदि के निरूपण में सवका मत एक था।

भारतेन्दु का काव्य-साहित्य वहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है। वस्तुतः उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वह साधारण कवि नहीं, आशु कवि थे। इसलिए लिखने का सामान सदैव उनके साथ रहता था। उनके मन में जव तरंग उठती थी तव वह लिखने वैठ जाते थे और धारावाही रूप से लिखते थे। उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह भावावेश में जो कुछ लिखते थे वह कविता ही

भारतेन्दु की काव्य-साधना

होती थी। भावुकता उनमें इतनी अधिक थी कि उसका उद्रेक होने पर उन्हें अपनी स्थिति तक का ध्यान नहीं रहता था। वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

भारतेन्दु का काव्य कई रूपों में हमें मिलता है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व हुआ है। वह प्रत्येक युग की जिन विशेषताओं से प्रभावित थे उन्हीं के अनुरूप उन्होंने कविता की थी। वह अपनी रचनाओं में कभी भक्ति-कालीन हैं, कभी रीति-कालीन और कभी एकदम शुद्ध आधुनिक। इन विविध रूपों के अतिरिक्त उन्होंने बँगला और उर्दू कविताएँ भी लिखी हैं। वह अपने समय के उर्दू के प्रतिष्ठित कवि थे और मुशायरों—उर्दू-कवि-सम्मेलनों—में बराबर भाग लेते रहते थे। 'रसा' उनका उपनाम था। उनकी बहुत सी कविताएँ इस श्रेणी में आती हैं। अपनी सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कविताओं को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. भक्ति-प्रधान, २. शृंगार-प्रधान, ३. देश-प्रेम-प्रधान और ४. सामाजिक समस्या-प्रधान।

भक्ति-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु पुष्टि-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त थे। इससे उनकी कविता का सबसे बड़ा भाग वैष्णव-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैष्णव कृष्ण-भक्ति काव्य के जितने भी अंग हैं, उन सब पर उन्होंने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण इस पद में देखिए :—

हम तो मोल लिये या घर के,
दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।

भारतेन्दु का भक्ति-साहित्य गीति-काव्य की श्रेणी में आता है। इसके अन्तर्गत हमें लगभग डेढ़ हज़ार पद मिलते हैं। इतने सुन्दर पद इतनी बड़ी संख्या में अष्टछाप के कवियों के पश्चात् भारतेन्दु ही ने लिखे हैं। इन पदों का विषय राधा-कृष्ण-लीला है, पर

इतनी सरस, भावपूर्ण, चुटीली और प्रभावपूर्ण होती हैं कि पाठक के हृदय को अपने में तन्मय कर लेती हैं।

३. देश-प्रेम प्रधान रचनाएँ—वस्तुतः भारतेन्दु की जीवन-ज्योति का केन्द्रीय विन्दु प्रेम ही है। यह प्रेम कभी गंगा के समान भगवान् के श्रीचरणों से उच्छ्वसित हुआ है, कभी राधा और कृष्ण के सम्मिलित हृदय से प्रवाहित होकर काव्य की पृष्ठभूमि बना है और कभी देश और राष्ट्र के कल्याण के लिए फूट पड़ा है।

भारतेन्दु का युग विक्टोरिया का शासन-काल था। इस काल में एक लम्बी अवधि के पश्चात् शान्ति स्थापित हुई थी। अतः भारतेन्दु ने इस काल में लोगों का ध्यान देश की ओर आकर्षित किया। सर्वप्रथम उन्होंने भारत-दुर्दशा में अपने देश-म का परिचय इस प्रकार दिया :—

रोअहु अब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में उनकी राष्ट्रीय आत्मा का जैसा स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी अधिकांश रचनाएँ ऐसे चित्रों से भरी पड़ी हैं। चाहे जैसा अवसर हो, चाहे जैसी रचना हो वह अपने देश को कभी नहीं भूलते। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' और 'उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख वहै' आदि पंक्तियों में उनकी यही भावना चितित्र हुई है। वह यह भी कहते हैं :—

कछु तौ वेतन में गयो, कछुक राजकर माँहि।
बाकी सब व्योवहार में गयो रह्यो कछु नाहिं॥

सारांश यह कि उनके हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जागृति हो उठती थी। वस्तुतः आज की राष्ट्रीयता का प्रथम मंत्रोचार उन्होंने ही किया था।

४. सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की सामाजिक विषयों में भी रुचि थी। वह प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन को सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। समाज के दोष उनसे छिपे नहीं थे।

धार्मिक पाखण्ड, विभिन्न मत-मतांतरों का प्रचार, अनेक जातियों की उत्पत्ति छूआछूत की दूषित प्रणाली, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अंधविश्वास, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि समस्याएँ उनके सामने थीं। उन्होंने इन समस्याओं को अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही सुलझाने का प्रयत्न किया। समाचार-पत्रों द्वारा उन्होंने सामाजिक आन्दोलन चलाया और कविताएँ लिख-लिखकर जनता को सामाजिक दोषों की ओर आकर्षित किया।

भारतेन्दु ने प्रकृति के भी चित्र उतारे हैं, पर इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। उनके मानव-प्रकृति के चित्र शुद्ध और यथार्थ हैं। इसका एक कारण है। भारतेन्दु का समस्त जीवन एक नगर के बीच भव्य भवन में व्यतीत हुआ था। उन्हें उद्यानादि की भी विशेष रुचि नहीं थी। पर्यटन आदि में भी वह वन्य शोभा की ओर विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए थे। फलतः प्रकृति-चित्रण में उन्हें विशेष आनन्द नहीं मिला। सत्य हरिश्चन्द्र में जिस गंगा का वर्णन है वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होनेवाली गंगा न होकर काशी के विशाल-काय घाटमाला के नीचे प्रवाहित होनेवाली गंगा-धारा है। इस गंगा-धारा के धार्मिक महत्त्व से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने उसका जो चित्र अंकित किया है, उसमें मानव प्रकृति ही का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। देखिए :—

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन-मन विविध मनोरम करत, मिटावत ॥

भारतेन्दु की भाषा

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु का लक्ष्य था हिंदी का भारतीय जनता में प्रचार और इस प्रचार-द्वारा हिंदी-साहित्य की उन्नति। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें जनता की भाषा को अपनाना आवश्यक था। उस समय शिक्षित समाज की भाषा खड़ी बोली थी और उर्दू की गद्य-भाषा का बोलबाला था। हिंदी का गद्य पिछड़ा हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल प्रभृति लेखकों की गद्य-रचनाओं में उर्दू गद्य-साहित्य की-सी न तो मिठास थी और न वह चुलबुलापन ही था। किसी में व्रजभाषापन था, किसी में पूर्वीपन और किसी में पण्डिताऊपन। गद्य की भाषा में जैसी चुस्ती और शक्ति होनी चाहिए, वैसी इन लेखकों की शैलियों में से किसी में भी नहीं थी। उनके शब्द-विन्यास असंयत, वाक्य-विन्यास शिथिल और प्रवाह-शून्य होते थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की शैली परिष्कृत अवश्य थी, पर वह वास्तव में हिंदी-अक्षरों में उर्दू शैली थी। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इन सब से भिन्न थी। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हुई थी। हिंदी के प्रचार में ये सब शैलियाँ बाधक थीं। आवश्यकता थी ऐसी भाषा की जो सरल, सुबोध, प्रवाहपूर्ण और प्रसादयुक्त होने के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल हो। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने की। उन्होंने गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया उन्होंने तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों के अध्ययन से एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनकी इस शैली में न तो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उनकी भाषा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा थी। अपनी इस भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उन्होंने तत्कालीन हिंदी शब्द-कोष से ऐसे समस्त अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया था जिनसे प्रवाह में बाधा पड़ती

थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया उन पर हिंदी की छाप लगा दी। भाषा का रँग-रूप सँवारने में उन्होंने हिंदी व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखा।

खड़ी बोली का जैसा संस्कार भारतेन्दु ने किया वैसा ही उन्होंने ब्रजभाषा का भी किया। उनके समय में ब्रजभाषा काव्य-भाषा थी, पर वह इतनी जटिल और दुरूह हो गई थी कि पाठकों को उसमें विशेष आनन्द नहीं मिलता था। खड़ी बोली में काव्य-रचना का प्रयास यद्यपि प्रारंभ हो गया था, तथापि उसमें अभी इतना साहित्य न था कि वह लोकरंजन में समर्थ हो सके। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने ब्रजभाषा का भी परिमार्जन किया। उन्होंने उसमें से ऐसे बहुत से शब्द निकाल दिये जो अप्रचलित और कुंठित हो गये थे। उन शब्दों के स्थान पर उन्होंने नये प्रचलित शब्दों को ब्रजभाषा में ढालकर चालू किया।

अब भारतेन्दु की भाषा पर विचार कीजिए। जैसा कि अभी बताया गया है उनकी भाषा के दो रूप हैं—१. खड़ीबोली और २. ब्रजभाषा। उनकी खड़ी बोली शुद्ध खड़ीबोली नहीं है। हिंदी शब्दों का बाहुल्य होने के साथ-साथ उसमें फारसी, अरबी, अँगरेजी और संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं, पर वह हैं सब हिंदी के साँचे में ढले हुए। उन्होंने विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में स्वीकार न करके तद्भव रूप में स्वीकार किया है। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास आ गई है। ब्रजभाषा का भी पुट उनके शब्दों पर रहता है। व्यर्थ और भरती के शब्द उनकी रचनाओं में बहुत कम रहते हैं। उनका शब्दचयन अर्थपूर्ण होता है और उनके वाक्य भावानुकूल कभी बड़े कभी छोटे होते हैं। उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण सरल, सरस, प्रसादगुण युक्त, चुटीली और बोधगम्य होती है। उन्होंने कोमल शब्दों को अधिक अपनाया है। अंचल के बदले आँचल, स्वभाव के बदले सुभाव, स्नेह के बदले नेह उन्हें अधिक पसन्द हैं। देशज शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है। फारसी, अरबी

और अँगरेजी के शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी उन्होंने प्रयोग किया है, भाषा सजीव हो गई है। संस्कृत की उक्तियाँ और वाक्यांश भी उनकी भाषा में पर्याप्त हैं।

भारतेन्दु के समय में हिन्दी-भाषा-शैली के दो रूप थे—१. राजा शिवप्रसाद की शैली और २. राजा लक्ष्मणसिंह की शैली। भारतेन्दु ने इन दोनों शैलियों को त्यागकर पहलेपहल भाषा को सर्व-विषयोपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। धार्मिक, सामाजिक, भावात्मक, व्यंगात्म परिहासात्मक आदि जिस प्रकार के भी विषय थे उनके व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने तदनुकूल भाषा-शैली को जन्म दिया अपनी शैली के इस गुण के द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में सर्वदा पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया। जो जिस स्थान का पात्र है, जिस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिस सभ्यता का उपासक है, उसी के अनुकूल उसकी भाषा है। उच्च पात्रों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है और निम्न वर्गों के पात्रों के लिए गँवारू भाषा का। मराठी और बंगाली पात्रों के उच्चारण और शब्द उन प्रान्तों के निवासियों के अनुकूल ही हुए हैं। इससे उनके कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी शैली का आदर्श उनके नाटकों में मिलता है। विषय के अनुसार उनकी शैली के निम्न रूप हो सकते हैं :—

भारतेन्दु की शैली

१. परिचयात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने साधारण अवस्थाओं में किया है। इतिहास के साधारण वर्णन तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में हमें इस शैली के दर्शन होते हैं। उनकी इस शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का बाहुल्य रहता है और न फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार। इस प्रकार उनकी यह शैली राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह की शैलियों के बीच की शैली है।

२. भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने अपनी

भावनापूर्ण रचनाओं में किया है। हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि के चित्रण में इसी शैली का मान्य है। इसलिए भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली आदि नाटकों में यही शैली पाई जाती है। आवेशपूर्ण स्थलों पर छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग और उनका गठन, सरल शब्दों का प्रयोग तथा प्रवाह इस शैली की विशेषताएँ हैं।

३. गवेषणात्मक शैली—भारतेन्दु-साहित्य में इस शैली के दो रूप मिलते हैं। इसका एक रूप उनके साहित्यिक निबन्धों में है और दूसरा रूप ऐतिहासिक निबन्धों में। साहित्यिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली ऐतिहासिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली की अपेक्षा, सरस, मधुर और आकर्षक है। इन दोनों रूपों की भाषा संस्कृत-शब्द-प्रधान है।

४. व्यंगात्मक शैली—भारतेन्दु व्यंगात्मक शैली के जन्मदाता हैं। उनके पहले इस शैली का हिन्दी-साहित्य में अभाव था। सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डी पण्डितों का खण्डन करने के लिए उन्होंने इस शैली का सहारा लिया। इस शैली का उनके जीवन-काल ही में अत्यधिक प्रचार हुआ। उनकी इस शैली में सरल हास्य-विनोद और व्यंग की मात्रा अधिक रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु कई शैलियों के जन्मदाता हैं और उन शैलियों की विशेषताओं से वह भली भाँति परिचित भी हैं।

अब तक हमने भारतेन्दु-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। हमने यह देखा है कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिक हैं। उनके विषय नये हैं, उनकी भावना नई है, उनकी भाषा और शैली नई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके जन्म से एक नये अध्याय का, एक नये युग का प्रादुर्भाव होता है। इस नये युग के वह नेता हैं। अपने नेतृत्व से उन्होंने हिन्दी को गौरवान्वित किया है।

एक साहित्यकार के नाते हम उनको कई रूपों में पाते हैं। वह

नाटककार हैं, निबन्धकार हैं, इतिहास लेखक हैं, कथाकार हैं, कवि हैं, आलोचक हैं। और कुशल सम्पादक हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में वह हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं। हिन्दी में नाटक-रचना का सूत्रपात उन्हीं के नाटकों से हुआ है। उनके नाटक मौलिक भी हैं और अनूदित भी। नाट्य-शास्त्र पर उन्होंने एक निबन्ध भी लिखा है। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं जो भाषा, भाव और विषय आदि की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सत्य हरिश्चन्द्र और भारत-दुर्दशा उनके नाटकों में सर्वोच्च हैं। ये अभिनेय भी हैं। इन नाटकों द्वारा उन्होंने जनता की रुचि का परिष्कार किया है और उसे प्रकृत नाट्य-कला से परिचित कराया है। अंधेरनगरी आदि उनके व्यंगपूर्ण नाटक हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने कई गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण आदि उनके ऐतिहासिक निबन्ध हैं। सुलोचना, सावित्री आदि उनके आख्यान हैं। उन्होंने गंभीर और हास्य एवं व्यंगपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। तत्कालीन जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत करने के लिए उन्होंने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा बाल-बोधनी का सम्पादन भी किया है। इन साहित्यिक सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी काम किया है। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, छूआछूत, धार्मिक पाखण्ड, समुद्र यात्रा, गोरक्षा आदि सामाजिक विषयों पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और उन विचारों से तत्कालीन जनता का परिचय कराया है। अपने युग में वह इन सब बातों के केन्द्र रहे हैं। हिन्दी का कोई कवि इतनी समस्याओं को एक साथ लेकर साहित्य की सेवा में संलग्न नहीं हुआ। अतः इस दृष्टि से भी वह सर्वोपरि हैं, सब से ऊँचे हैं।

—१७—

श्रीधर पाठक

जन्म सं० १९१६ मृत्यु सं० १९८६

पण्डित श्रीधर पाठक का जन्म माघ कृष्ण चतुर्दशी, सं० १९१६; ता० ११ जनवरी सन् १८६० ई० को आगरा प्रान्त के जोधरी नामक ग्राम में हुआ था। वह सारस्वत ब्राह्मण थे।

जीवन-परिचय

लगभग ग्यारह सौ वर्ष पहले उनके पूर्वज पंजाब से आकर उस ग्राम में बस गये थे। उनके तायाजी पं० धरणीधर न्यायशास्त्र के निष्णात पंडित थे और पिता पं० लीलाधर बड़े ही सच्चरित्र तथा भगवद्भक्ति-परायण थे। सं० १९६२ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके शोक में पाठकजी ने 'आराध्य-शोकाञ्जलि' नामक कतिपय कुछ संस्कृत पद्यों की एक पुस्तिका लिखी, जो बड़ी ही करुणा-पूर्ण है।

श्रीधर पाठक की प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। इससे दस ग्यारह वर्ष की अवस्था ही में उन्होंने संस्कृत का इतना प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त कर लिया कि वह उस भाषा में लिखने और बोलने लगे। इसके बाद पढ़ना-लिखना छोड़कर वह खेल-कूद में लग गये। १४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने फिर पढ़ना आरंभ किया। पहले उन्होंने फारसी का कुछ ज्ञान प्राप्त किया। फिर सन् १८७५ में तहसीली स्कूल से हिन्दी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में वह प्रान्त भर में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। सन् १८७६ ई० में उन्होंने आगरा कालेज से अंग्रेजी में मिडिल की परीक्षा पास की और इसमें भी उन्होंने प्रान्त भर में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। सन् १८८० ई० में उन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके बाद उन्होंने नौकरी कर ली। पहले-पहल वह कलकत्ता में शेंसर कमिश्नर के दफ्तर में नियुक्त हुए। यहाँ कार्य करते हुए उन्हें शिमला जाकर

हिमालय का सौंदर्य देखने का अवसर मिला। वहाँ से लौटने पर वह लाट साहब के दफ्तर में नौकर हो गये और दफ्तर के साथ नैनीताल गये। एक वर्ष तक उन्होंने भारत-सरकार के दफ्तर में डिप्टी सुपरिंटेंडेण्ट तथा सुपरिंटेंडेण्ट के पदों पर भी कार्य किया।

पाठकजी सरकारी कार्य बड़े परिश्रम और सावधानी से करते थे। उनको घूस, अन्याय और चाटुकारी से बहुत चिढ़ थी। समय की उपयोगिता का वह बहुत ध्यान रखते थे। उत्तम अंगरेज़ी लिखने के लिए वह प्रसिद्ध थे। सुपरिंटेंडेंट के पद पर उन्हें ३००) मासिक मिलता था। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने प्रयाग के लूकरगंज मुहल्ले में पद्मकोट नाम का एक बँगला बनवाया और सकुटुम्ब उसी में रहने लगे। यहीं साहित्य-सेवा करते हुए सं० १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ।

पाठकजी अत्यन्त सरल, निष्कपट और न्याय-प्रिय व्यक्ति थे। वह प्राकृतिक सौंदर्य के बड़े प्रेमी थे। उनके व्यावहारिक जीवन में शुद्धता, सरलता, उदारता, और सहृदयता कूट-कूटकर भरी हुई थी। वह सब से हृदय खोलकर मिलते थे। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सेवा का व्रत-सा ले लिया था। वह अपने किसी कमरे में बैठे साहित्यानुशीलन ही किया करते थे। कविता करने का उन्हें व्यसन-सा था। उनकी साहित्यिक सेवाओं पर मुग्ध होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपने प्रथम अधिवेशन का सभापति भी बनाया था।

पाठकजी ने अपनी कई रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को भेंट में दी हैं। इन रचनाओं का हिन्दी में महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी-साहित्य में

पाठकजी की रचनाएँ

उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब खड़ीबोली अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी। अतः वह खड़ीबोली के आरंभकालीन कवियों में माने जाते हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाएँ खड़ीबोली और व्रजभाषा

दोनों के अन्तर्गत आती हैं, पर विषय-वस्तु की व्यंजना की दृष्टि से उनका विभाजन दो भागों में हो सकता है। एक भाग में उनकी वे रचनाएँ आती हैं जो संस्कृत और अंगरेजी कविताओं के अनुवाद मात्र हैं और दूसरे भाग में उनकी मौलिक रचनाओं की गणना की जा सकती है। अतः उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. अनूदित काव्य ग्रन्थ—पाठकजी ने कालिदास के ऋतु-संहार के प्रथम तीन भागों का अनुवाद सरस और सजीव व्रजभाषा में किया है। इसके अतिरिक्त गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' 'ट्रेवलर' और 'डेजर्टेड विलेज' नामक काव्यों का भी क्रमशः एकांतवासी योगी, श्रांत पथिक और उजड़ ग्राम के नाम से अनुवाद किया है। इनमें से प्रथम दो की भाषा खड़ीबोली और अन्तिम की भाषा व्रजभाषा है।

२. मौलिक ग्रन्थ—पाठकजी के मौलिक ग्रन्थों में आराध्य-शोकाञ्जलि, श्री गोखले-प्रशस्ति, श्री गोखले गुणाष्टक, काश्मीर-सुषमा, मनो-विनोद, देहरादून, गोपिका गीत, भारत-गीत, जगत सचाईसार और तिलस्माती मुँदरी की गणना की जाती है। उनकी समस्त कविताओं का एक संग्रह पद्य-संग्रह के नाम से भी प्रकाशित हुआ है।

पाठकजी बड़े प्रतिभा-सम्पन्न और सौंदर्योपासक कवि थे। वह खड़ीबोली का प्रचार होने से पूर्व व्रजभाषा में कविता करते थे।

पाठकजी की काव्य-साधना

द्विवेदी-युग में जब खड़ीबोली का बोलबाला हुआ तब वह उसके प्रथम कवि हो गये। इस दिशा में सहयोग देते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व के साथ ही भाषा-सम्बन्धी अपनी स्वतन्त्र रुचि पर आघात नहीं आने दिया। कविता में ललित भावों की ओर उनका आकर्षण अधिक रहा। इसलिए खड़ीबोली की कविता में भी उन्होंने यत्र-तत्र व्रजभाषा के शब्दों का स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयोग किया। इसीलिए हम उनकी रचनाओं में खड़ीबोली और व्रजभाषा दोनों को दो सखियों के रूप में एकत्र पाते हैं।

पाठकजी भावुक कवि थे। उनकी भावुकता में रीझबूझ प्रधान थी। उनमें स्वतन्त्र आत्मस्फुरण की मात्रा कम थी। इसलिए उनकी मौलिक रचनाएँ उतनी नहीं हो सकीं जितनी कि उनकी अनूदित। वह आधुनिकतम काव्य-प्रवाह से उदासीन थे। भावों के क्षेत्र में उन्होंने कुछ नूतनता अवश्य उपस्थित की। विषयों की नवीनता और उनका प्रकृति के साथ सामंजस्य अपनी कृतियों द्वारा जितना उन्होंने उपस्थित किया उतना उनके किसी समवयस्क कवि ने नहीं किया। बँधे हुए विषयों और बँधी हुई शैलियों पर अन्यान्य कवियों ने बहुत कुछ लिखा, पर उससे हमारे साहित्य को उत्प्रेरणा नहीं मिली। पाठकजी ने मौलिक तथा अनूदित रचनाओं द्वारा अपनी ओर से नूतनता का श्रीगणेश किया। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य उनके महत्त्व को नहीं भूल सकता।

पाठकजी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। उनकी अनूदित रचनाएँ श्रेष्ठ हैं। अन्य भाषाओं की रचनाओं का इतना सुन्दर अनुवाद बहुत कम हुआ है। उनमें मौलिक रचना का सा अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। उनके कुछ ग्रन्थ इतिवृत्तात्मक हैं। इनके अतिरिक्त मुक्तक कविताओं में से कुछ राष्ट्रीय हैं, कुछ प्रकृति-सुषमा सम्बन्धी और कुछ अनुराग सम्बन्धी। इन समस्त प्रकार की रचनाओं में भाषा और भाव की सुकुमारता अत्यन्त प्रशंसनीय है। उनकी कुछ ऐसी भी मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें नवीनता के उन्मेष के लिए कठिन प्रयास है। प्रकृति-चित्रांकन में उन्हें विशेष रूप से सफलता मिली है। उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन तथा आलम्बन दोनों रूपों में ग्रहण किया है। इस दिशा में वह अपने सामयिक कवियों में अग्रगण्य हैं। उनके प्राकृतिक वर्णनों में तन्मयता और विशेष आकर्षण है। उन्हें पढ़ने से पाठक की आत्मा को एक विशेष प्रकार के उल्लास का अनुभव होता है।

हम बता चुके हैं कि पाठकजी खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों

में कविता करते थे। यद्यपि उनकी खड़ीबोली की कविता में बहुत से क्रियापदों का प्रयोग विशुद्ध खड़ी बोली का नहीं होता था, तो भी लोग उन्हें खड़ीबोली का आचार्य मानते थे। संस्कृत और अंगरेजी साहित्य में पारंगत होने के कारण उनमें भाषा-संस्कार की अच्छी क्षमता थी। उनकी ब्रज और खड़ीबोली दोनों भाषाएँ रस से ओत-प्रोत होती थीं।

पाठकजी की भाषा और शैली

इन दोनों काव्य-भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार था। उनका शब्द-प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त होता था। वह बहुत सोच-समझकर किसी शब्द का प्रयोग करते थे। उनका कहना था कि 'शब्दों की भी आत्मा होती है। जो यह नहीं जानता वह उनका दुष्ट प्रयोग करके उन्हें कलेषित कर देता है।' भाषा के व्यावहारिक रूप के सम्बन्ध में उन्होंने अपने कथन का पूरा ध्यान रखा। उनका शब्द-भाण्डार भी भरापुरा था। इसी से उनकी कविता में सुन्दर शब्दों की पर्याप्त संख्या मिलती है। उनकी ब्रजभाषा की कविताओं में कोमल-कान्त पदावली और भाषा-सौष्ठव दोनों का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उनकी भाषा की सफ़ाई और मधुरता एवं भावों की मार्मिक व्यंजना पर ही मुग्ध होकर आचार्य द्विवेदीजी ने सन् १८६६ में 'श्रीधर सप्तक' शीर्षक स्वरचित कविता में उनको गीतगोविन्दकार जयदेव का अवतार कहा था। भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की यह राय अत्यन्त समीचीन है।

पाठकजी की शैली में अपनापन है। वह अपनी शैली के स्वयम् जन्मदाता हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में रोला, बरवै, लावनी, छप्पय, वनाष्टक तथा सवैया छन्दों का प्रयोग करके अपने विविध वृत्तों की रचना-कौशल का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई नये छंदों की भी सृष्टि की है। इन छन्दों की लय बहुत अच्छी है। अंगरेजी शैली के गद्यात्मक छंदों में भी उनकी रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है। अलंकारों का विधान उनकी रचनाओं में स्वाभाविक रूप से हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाठकजी अपने समय के अत्यंत सुरुचिपूर्ण साहित्यकार थे। उनकी भाषा और उनकी शैली अपनी थी। प्रकृति से उन्हें विशेष प्रेम था। इसलिए प्रकृति के मनोरम चित्र अंकित करने में उन्हें पूरी सफलता मिली। उनके अनुवाद मौलिक रचनाओं के समान उत्कृष्ट और सजीव होते थे। उनमें राष्ट्रीयता थी और वह उसके पोषक थे। इन सब बातों के कारण वह अपने युग में एक विशिष्ट साहित्यकार माने जाते थे और आज भी हिन्दी भाषा-भाषियों को उनकी रचनाओं पर गर्व है।

—१८—

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म सं० १९२२ *मृत्यु सं० २००४*

महाकवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्ण ३, सं० १९२२ को निज़ामाबाद, ज़िला आज़मगढ़ में हुआ था। उनके पूर्वज बदाऊँ निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम पं० भोलासिंह था। वह बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उनके भाई पं० ब्रह्मासिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। वह निःसन्तान थे। अपने भतीजों को वह बहुत मानते थे। वस्तुतः उनके जीवन का प्रभाव उनके भतीजों पर बहुत पड़ा। उन्हीं की देख-रेख में हरिऔध की शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हुई थी। आरम्भ में उन्हें फारसी पढ़नी पड़ी। सात वर्ष की अवस्था में उनका प्रवेश स्थानीय तहसीली स्कूल में हुआ। वहाँ से उन्होंने स० १९३६ में सम्मान सहित मिडिल पास किया जिसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वह काशी के क्वींस कालेज में पढ़ने के लिए भेजे गये, पर वहाँ स्वास्थ्य

बिगड़ जाने के कारण वह आगे न पढ़ सके। इसलिए घर पर ही वह फ़ारसी, उर्दू तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते रहे।

सं० १६३६ में 'हरिऔध' का विवाह हुआ। उनका प्रारम्भिक जीवन आर्थिक संकटों का जीवन था। उनके पिता और चाचा खेती-बारी और पुरोहित का कार्य करते थे। अपने भाई गुरुसेवकसिंह की शिक्षा का भी उन्हें ध्यान था। इसलिए विवश होकर उन्हें सं० १६४१ में नौकरी करनी पड़ी। सर्वप्रथम वह निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और सम्वत् १६४४ में उन्होंने नार्मल-परीक्षा पास की। इस प्रकार कुछ दिनों तक अध्ययन-कार्य करने के पश्चात् बन्दोबस्त के समय वह कानूनगो हो गये और अपने अध्यवसाय तथा योग्यता के कारण उत्तरोत्तर उन्नति करके रजिस्ट्रार क़ानूनगो, सदर नायब कानूनगो, तथा सदर क़ानूनगो हो गये। इन पदों पर लगभग चौंतीस वर्षों तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् उन्होंने पेन्शन ले ली और अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा में अर्पित कर दिया। इस समय काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता थी। अतः 'हरिऔध' ने १ नवम्बर सन् १६२३ से वहाँ अवैतनिक अध्यापक के रूप में अध्यापन-कार्य करना स्वीकार कर लिया और सन् १६४१ तक वह बड़ी सफलतापूर्वक यह कार्य करते रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने आज़मगढ़ को स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाया और यहीं ६ मार्च सन् १६४७ को उनका स्वर्गवास हुआ।

'हरिऔध' का जीवन भारतीय जीवन का आदर्श था। उनके भाई गुरुसेवकसिंह ने इंगलैण्ड जाकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में सिक्ख-धर्म का बाना त्याग दिया, पर 'हरिऔध' जी ने अपना पण्डिताऊ रहन-सहन नहीं छोड़ा। वह अपनी बाल्यावस्था से ही निज़ामाबाद के सिक्ख-गुरु बाबा सुमेरसिंह के प्रभाव में आ गये थे। बाबा सुमेरसिंह के सत्संग से उनमें धार्मिक भावना का जो विकास

हुआ उसने उनकी जीवन-दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। इसलिए कर्मकाण्डी पंडितों के वंश में जन्म लेने पर भी उनमें वास्तविक अर्थ में शुद्ध सनातनी पंडितों की धार्मिकता का विकास नहीं हो पाया। सिक्ख-धर्म में उनका विश्वास था और अन्त समय तक वह सिक्ख बने रहे। वह अच्छे वक्ता और आलोचक भी थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वह सभापति भी रह चुके थे। प्रियप्रवास पर उन्हें सम्वत् १९८५ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला और वह सम्मेलन की 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से भी विभूषित किये गये। उनके इकलौते पुत्र पं० सूरजनारायण इस समय आजमगढ़ में रहते हैं।

हरिऔध की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। हरिऔध की अनूदित रचनाएँ दो प्रकार की हैं—गद्य और पद्य। १. गद्य में 'वेनिस का बाँका' अनूदित उपन्यास है; 'रिपवानविंकिल' हिन्दी में उर्दू-रिपवानविंकिल का अनुवाद और कहानी है; 'नीति-निबन्ध' अनूदित निबन्धों का संग्रह है। २. पद्य में उपदेश-कुसुम के तीन भाग जो गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय के अनुवाद हैं और विनोद-वाटिका जो गुलज़ार दबिस्ताँ का रूपान्तर है। हरिऔध की मौलिक रचनाएँ चार प्रकार की हैं:—

हरिऔध की रचनाएँ

१. महाकाव्य—प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास।

२. स्फुट काव्य-संग्रह—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रसकलस, पद्यप्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन, प्रेम-पुष्पोहार, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह और प्रेमाम्बुवारिधि।

३. उपन्यास—ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल।

४. आलोचना—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना आदि।

हरिऔध की इन रचनाओं से उनकी साहित्यिक प्रतिभा तथा

अध्ययनशीलता का अच्छा परिचय मिल जाता है।

हरिऔध अपने काव्य के लिए हिन्दी साहित्य में अधिक लोकप्रिय हैं। वह आरम्भ से ही हमारे सामने कवि के रूप में आते हैं और इसी रूप में उनके साहित्यिक जीवन का अवसान होता है। उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ दोहों में हैं। दोहों की रचना हरिऔध ने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही की थी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उनकी ऐसी समस्त रचनाएँ भारतेन्दु-काल में आती हैं और उन समस्त विशेषताओं से प्रभावित हैं जिनके लिए भारतेन्दु-काल प्रसिद्ध है। शृंगार-सिन्दूर के रूप में रस-कलस की भूमिका भी इसी काल में लिखी गई है।

हरिऔध की काव्य-साधना

हिन्दी में जब द्विवेदी-युग आया तब हरिऔध की काव्य-प्रतिभा ने अपनी दिशा में परिवर्तन कर दिया। उस समय ब्रजवाणी के स्थान पर खड़ीबोली को अपनाकर उन्होंने प्रियप्रवास नामक महाकाव्य की रचना की। अपने इसी भिन्न तुकान्त महाकाव्य के कारण वह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं। इसी युग का उनका दूसरा महाकाव्य वैदेही-वनवास है। काव्यकला की दृष्टि से इस महाकाव्य का उतना महत्त्व नहीं है जितना प्रियप्रवास का, पर भाषा-सौष्ठव इसमें भी देखने योग्य है। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में बोलचाल, चौखे चौपदे और चुभते चौपदे-जैसी उनकी कृतियाँ हैं। बोलचाल में बाल से लेकर तलवे तक सब अंगों तथा चेष्टाओं के प्रचलित मुहावरों पर बोलचाल और चलती हुई भाषा में भावमयी कविताएँ हैं। इन साढ़े तीन सहस्र से अधिक चौपदों में हरिऔध ने समाज और राज, व्यष्टि और समष्टि, लोक और परलोक, नीति और धर्म, संस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार आदि जीवन के प्रायः सभी पक्षों पर सूक्तियाँ सजा दी हैं। देखिए :—

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही, तब भला हम मूँछ क्या हैं ऐंठते।

ऐसी सूक्तियों से हिन्दी-साहित्य के कोष का परिवर्धन ही हुआ है। चोखे चौपदे में भी ऐसी ही सूक्तियाँ हैं, पर इनमें समाज-कल्याण और मानवहित की शुद्ध भावनाओं का चित्रण हुआ है। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उनका एक चौपदा देखिए :—

मन्दिरों मसजिदों में, खोजने हम कहाँ-कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं, हम कहाँ तक निगाह फैलायें।

इन चौपदों में भाषा का लालित्य तो है ही, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के प्रति कटु व्यंग और भावों का सौष्ठव भी है। अतः यह कहना कि उन्होंने काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उद्देश्यों और व्यंगों द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार होने के कारण ही इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की, अन्याय और निष्ठुरतापूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपनी ऐसी कृतियों में मानसिक व्यायाम अधिक करना पड़ा है, पर इससे उनकी साहित्यिकता नष्ट नहीं हुई है। मुहावरों में जो मिठास, चुटीलापन और साहित्यिक सौन्दर्य होता है उसका सर्वत्र बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है।

खड़ीबोली में साधारण बोलचाल की जिन रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा अभी की गई है उनके अतिरिक्त हमें हरिऔध की ब्रजभाषा की कृतियाँ भी द्विवेदी-युग में मिलती हैं। 'रस-कलस' उनका ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है। ब्रजवाणी के प्रति साहित्यिक जीवन के उषाकाल में उनका जो मोह था वह भारतेन्दु-काल से छनता, निखरता और परिष्कृत होता हुआ द्विवेदी-युग में अपनी चरम-सीमा पर पहुँचा है। इसलिए ब्रजभाषा के हरिऔध को हम उस क्रान्ति-युग में भी जीवित पाते हैं। द्विवेदी-युग के हरिऔध में काव्य-जीवन के तीन रूप हैं—१. प्रियप्रवास के हरिऔध २. चौपदों के हरिऔध और ३. रसकलस के हरिऔध। अपने इन तीनों रूपों में हरिऔध एक दूसरे से भिन्न हैं, पर अपने तीनों रूपों पर उनका समान अधिकार है। उनकी प्रतिभा की धारा एक ही कवि-हृदय से निकलकर तीन

दिशाओं में प्रवाहित होती है, उनका कहीं भी मेल नहीं होता।

हरिऔध समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए हैं। 'पारिजात' यद्यपि उनकी द्विवेदी काल की स्फुट रचनाओं का संग्रह है, तथापि उसमें नवीन युग के अंकुर वर्तमान हैं। इस काव्य-ग्रन्थ में उनकी अधिकांश दार्शनिक रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं से उनके आध्यात्मिक विचार और भावों की गंभीरता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं उनमें हरिऔध अपने नवीन रूप में मिल सकते हैं।

हरिऔध की भाषा हमें कई रूपों में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि भाषा पर उनका बड़ा अधिकार है। वह भाषा के धनी हैं।

हरिऔध की भाषा

गद्य और पद्य—साहित्य के इन दोनों क्षेत्रों में—उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। वह सरल से सरल भाषा लिख सकते हैं और कठिन से कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। वह अपने आस-पास की शुद्ध ग्रामीण भाषा भी लिख सकते हैं और शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भी। उनकी भाषा के मुख्यतः चार रूप हमें मिलते हैं—१. उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी, २. व्रजभाषा, ३. सरल साहित्यिक हिन्दी और ४. तत्सम शब्द-प्रधान हिन्दी। बोल-चाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोपहार काव्योपवन आदि काव्य-ग्रन्थों में उनकी भाषा उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी है। यह इतनी सरल, सुबोध और मुहावरेदार है कि उसे समझने में किसी को देर नहीं लग सकती। रस-कलस में उनकी रचनाओं की भाषा व्रजवाणी है। वह अपने शुद्ध रूप में नहीं है। उस पर खड़ी बोली का यथेष्ट प्रभाव है; पर है वह सबल, साहित्यिक और व्रजभाषा के नियमों से बँधी हुई। शिथिलता उसमें नहीं है। रीति-कालीन कवियों ने तुकबन्दी और व्यर्थ के शब्दों की ठूँस-ठाँस से जिस प्रकार अपनी भाषा का बिगाड़ा है उस प्रकार का प्रयत्न हरिऔध ने नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का उन्होंने व्रजवाणी के साँचे

में डालकर मधुर बना दिया है। इस प्रकार भाषा को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार नया रूप देने में वह बड़े ही कुशल हैं। उनकी तीसरे प्रकार की भाषा है सरल हिन्दी। प्रियप्रवास और 'वेनिस का बाँका' के अतिरिक्त उनके शेष खड़ीबोली के ग्रन्थों में सरल हिन्दी का प्रयोग हुआ है। 'प्रियप्रवास' के बाद 'वैदेही-वनवास' की भाषा प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी जनता के सामने आई है। प्रियप्रवास की भाषा चौथे प्रकार की है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से इतनी बोझिल और दबी हुई है कि कहीं-कहीं उसमें हिन्दी खो-सी गई है। देखिए :—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी, सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।

वृत्तों के अनुकूल ऐसी भाषा के लिखने में हरिऔध ने न तो अपने पाठकों का ध्यान रखा है और न उस भाषा के व्याकरण का जिसमें वह प्रियप्रवास लिख रहे थे। इसलिए उनसे व्याकरण-सम्बन्धी भूलें भी हुई हैं और वह अपनी भाषा को बहुत आकर्षक भी नहीं बना सके हैं। इससे उनके काव्य की रोचकता भी नष्ट हुई है। उनका शब्द-चयन भी शिथिल है ब्रजभाषा के कुछ शब्द भी खड़ीबोली में आ गये हे जो खटकते हैं। पर इन दोषों के रहते हुए भी हरिऔध के भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य पर किसी का सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रति उनकी अटूट लालसा है। इस लालसा और इस मोह को प्रियप्रवास में उन्होंने पूर्णतः रक्षा की है।

हरिऔध और शैली

अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। वस्तुतः शैली ही लेखक अथवा कवि का वह साधन है जिसके आलोक में हम उसके व्यक्तित्व की, उसके योग्यता की, परीक्षा करते हैं। इस दृष्टि से आँकने पर हम यह कह सकते हैं कि हरिऔध अपनी शैली के स्वयं जन्मदाता हैं। उनकी शैली पर किसी का स्पष्ट प्रभाव नहीं है। प्रियप्रवास, रस-कलस, वैदेही-वनवास, बोलचाल तथा चौपदे उनकी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण

हैं। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों पर अपनी लेखनी उठाई है। गद्य में उनकी शैली कुछ पंडिताऊपन लिए हुए अलंकृत शैली है। अनुप्रास की छटा, लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द, मुहावरों की भरमार, संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य, कहीं-कहीं लम्बे वाक्य उनकी गद्यशैली में अधिक पाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में प्रसाद, माधुर्य और ओज सभी गुण मिलते हैं। उनकी शैली में प्रवाह और चत्कार भी है। काव्य-साहित्य में उनकी शैली के चार रूप हम मिलते हैं—१. उर्दू की मुहावरेदार शैली, २. हिन्दी की रीतिकालीन शैली, ३. संस्कृत-काव्य की शैली और ४. वर्तमान शैली। अपनी इन शैलियों में हरि-औध सर्वथा नवीन हैं। प्रिय-प्रवास की शैली उच्च हिन्दी का निदर्शन है, पर लम्बे-लम्बे समासों के कारण कहीं-कहीं अप्रसिद्ध शब्द भी आ गये हैं। विदेशी शैली का बुर्का और पायजामा उतारकर उन्होंने उसे हिन्दी की साड़ी में इस प्रकार सजाया और सँवारा है कि उसमें चटकीलापन आ गया है। इस दिशा में हरिऔध का प्रयास अत्यन्त सफल है। मुहावरे भाषा के प्राण बनकर उनकी शैली में आये हैं। उनका समस्त साहित्य मुहावरों का एक विशाल कोष है। संस्कृत-काव्य की शैली में अतुकान्त कविता के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। वर्तमान शैली के नमूने पारिजात और वैदेही-वनवास में अधिक मिलते हैं। वृत्तों और विषय के अनुकूल भाषा का होना उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में कृत्रिमता नहीं, स्वाभाविकता है। उन्होंने अपनी शैली को प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए अनुप्रासों, उपमाओं और रूपकों से सहायता ली है, पर अपनी इस चेष्टा में उन्होंने अपनी भाषा की स्वाभाविकता और उसके प्रवाह पर आँच नहीं आने दी है। संस्कृत और फ़ारसी के ज्ञाता होने के कारण वह प्रत्येक शब्द की आत्मा और विशिष्टता से परिचित हैं। इसलिए उनका शब्द-शोधन कवित्वपूर्ण और व्याकरण के नियमों के अनुकूल है। उनकी शैली में संगीत का तत्त्व है, पर

अभिव्यंजना की प्रणाली नहीं है।

हरिऔध की काव्य-साधना के भाव और कला-पक्षों पर सम्यक् विचार हो चुका। अब हम उनकी तथा उनके समकालीन गुप्तजी की कलाकृतियों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त

हरिऔध के सम्बन्ध में हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपनी आँखों से हिन्दी के उत्थान काल के तीन युग भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल और वर्तमान काल—देखे हैं। भारतेन्दु-काल में बाबा सुमेरसिंह से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रजवाणी को अपनाया। द्विवेदी काल में खड़ीबोली को प्रोत्साहन मिलने से उन्होंने खड़ीबोली में अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया, पर इसके साथ ही ब्रजवाणी के प्रति उनका जो मोह था उसका परित्याग नहीं किया। नवीन काल में यद्यपि उनकी काव्य-प्रतिभा अधिकांश द्विवेदीकालीन रही तथापि हिन्दी को उन्होंने अपनी फुटकल रचनाओं के रूप में योग-दान दिया और इस प्रकार वह अपने तीनों कालों में समान रूप से हिन्दी-काव्य की अभिवृद्धि करते रहे। गुप्तजी को काव्य-प्रेरणा मिली अपने पूज्य पिता से। उनके पिताजी कवि थे और ब्रजवाणी में कविता करते थे, पर गुप्तजी ने ब्रजवाणी को नहीं अपनाया। उनके काव्य-जीवन का प्रभात-काल द्विवेदी-युग का प्रभात-काल था। इसलिए द्विवेदी-युग के प्रभाव से उन्होंने खड़ी बोली में कविता करना आरंभ किया। इस प्रकार गुप्तजी ने अपनी आँखों से हिन्दी-काव्य के दो युग देखे हैं—द्विवेदी-युग और वर्तमान युग। द्विवेदी-युग से गुप्तजी अत्यधिक प्रभावित हैं। उनके काव्य-जीवन का विकास इसी काल में हुआ है। हरिऔध भी द्विवेदी-युग से उतने ही प्रभावित हैं जितने गुप्तजी, पर हरिऔध पर रीति-कालीन परम्पराओं का यथेष्ट प्रभाव है, गुप्तजी इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त हैं।

धार्मिक क्षेत्र में हरिऔध के सिद्धान्त अधिक व्यापक हैं। वह मानवता के रूप में अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। वह ईश्वर को

साकार रूप में स्वीकार नहीं करते। अपनी इस धारणा के कारण उन्होंने प्रियप्रवास में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित किया है। इसी धारणा के कारण उनमें सामाजिक चेतना का विकास हुआ है और विश्व-प्रेम की उद्भावना हुई है। गुप्तजी की धारणा इससे भिन्न है। गुप्तजी श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री-वैष्णव हैं। इसलिए पौराणिक अवतारवाद में उनका विश्वास है। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं जो 'रमा है सब में राम' वही निर्गुण से सगुण साकार बनकर अपनी वत्सलता का परिचय देता है।

गुप्तजी की भक्ति-भावना भक्त-कालीन कवियों में उन्हें लाकर बिठा देती है। हरिऔध की विचार-धारा पर सन्त-कवियों का प्रभाव है। सिक्ख-धर्म में दीक्षित होने के कारण उनकी साहित्य-साधना सन्त-कवियों की साहित्य-साधना बन गई है। उनका काव्यगत दृष्टिकोण उनकी धारणा के अनुकूल है। गुप्तजी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शों से ओत-प्रोत हैं। उनकी राम-कथा-सम्बन्धी रचनाओं में उनका वही स्वर है जो रामचरितमानस में तुलसी का। राष्ट्रीयता के नव जागरण काल में जन्म लेने के कारण जातीय तथा धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रीय भावाओं का भी सम्मिश्रण ऐसी रचनाओं में कर दिया है; पर गुप्तजी भक्त कवि नहीं, प्रमुखतः राष्ट्रकवि हैं। हरिऔध सामाजिक प्रवृत्तियों के कवि हैं। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गुप्तजी का जितना मोह है, उतना हरिऔध का नहीं है। इसीलिए जहाँ हरिऔध सुधारक और उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं, वहाँ गुप्तजी हमारी राष्ट्रीय चेतना में प्राण फूँकते पाये जाते हैं।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में हरिऔध की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। उनका उपन्यास और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य पर उनकी विवेचना उनकी गद्य-शैली के द्योतक हैं। प्रियप्रवास तथा वैदेही-वनवास उनके दो महाकाव्य हैं। रस-कलस

उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। गुप्तजी ने एक महाकाव्य साकेत, जयद्रथ वध आदि कई खण्ड-काव्य तथा गीति-काव्यों की रचना की है। गद्य की ओर उनकी प्रतिभा उन्मुख नहीं हुई है। आलोचना भी उनका विषय नहीं है। वह केवल कवि हैं। उनके कथानकों के आधार पौराणिक कथाएँ हैं। 'किसान' आदि उनकी स्वतंत्र रचना के उदाहरण हैं। हरिऔध ने भी अपने दो महाकाव्यों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर की है, पर उनमें पौराणिकता नहीं है। अपने आदर्शों के आलोक में उन्होंने अपनी कथाओं को नवीन और मौलिक रूप दिया है। गुप्तजी के कथानकों में इस प्रकार की चेष्टा नहीं है।

हरिऔध के प्रकृति-वर्णन में केवल विषाद के चित्र हैं। उनकी प्रकृति रोती अधिक है, हँसती कम है। विषय की विभिन्नता के कारण प्रकृति-चित्रण में गुप्तजी हरिऔध की अपेक्षा आगे हैं। हरिऔध के प्रकृति-वर्णन पर नवीन-युग की छाप नहीं है, गुप्तजी ने नवीन शैली को अपनाकर अपने प्रकृति-वर्णन को और भी सजीव बना दिया है।

काव्य-कला के क्षेत्र में हम हरिऔध को गुप्तजी से आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। हरिऔध आचार्य हैं। उनकी रचनाओं में अलंकार, रस, छन्द तथा भाषा का अत्यन्त सुन्दर विधान हमें मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा दोनों महाकवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से आये हैं। इनके आयोजन में हरिऔध को वियोग-शृङ्गार, वात्सल्य और करुण रसों के परिपाक में प्रशंसनीय सफलता मिली है, पर इन रसों के अतिरिक्त 'रस-कलस' में उन्होंने सभी रसों का परिचय दिया है। भाषा वह हर तरह की लिख और बोल सकते हैं। गुप्तजी में आचार्यत्व नहीं है। उनकी भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद सब कुछ है, पर यह सब है खड़ीबोली में। उस पर उनका अधिकार हरिऔध की अपेक्षा अधिक है; पर वह ब्रजभाषा में नहीं लिख सकते और न बोलचाल की भाषा ही अधिकार के साथ लिख सकते हैं। गुप्तजी की भाषा साहित्यिक हिन्दी है जिसमें न तो संस्कृत शब्दों का

बाहुल्य है और न उर्दू शब्दों की भरमार। हरिऔध के समान गुप्तजी का मुहावरों पर अधिकार नहीं है। हरिऔध और गुप्त दोनों अपनी छन्द-योजना में नवीन हैं। हरिऔध ने संस्कृत-वृत्तों का उपयोग किया है और गुप्तजी ने हिन्दी छन्दों का। गुप्तजी गीतिकार भी हैं। उर्दू के छन्दों का प्रयोग गुप्तजी ने नहीं किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध हिन्दी के महान् कलाकार हैं। हिन्दी के ब्रजभाषा के युग में जन्म लेकर जाति, देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ उन्होंने अपने जीवन का विकास किया है और अपनी साहित्यिक धारणाएँ निश्चित की हैं। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फारसी साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन भाषाओं के अतिरिक्त वह अँगरेज़ी, बँगला और गुरुमुखी भी जानते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। सरकारी कामों से छुट्टी पाने के पश्चात् उनके पास जो समय बचता था वह साहित्य-साधना में ही व्यतीत होता था। संस्कृत साहित्य का मन्थन जैसा उन्होंने किया था वैसा उनके समकालीन कवियों में नहीं देखा जाता।

—१९—

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

जन्म सं० १९२३ *मृत्यु सं० १९८९*

कविवर श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' का जन्म भादों सुदी ५, सं० १९२३ को काशी में हुआ था। वह अग्रवाल-कुल-भूषण थे। उनके पूर्वज पानीपत-निवासी थे और मुग़ल-सम्राटों के दरबार में उच्च पदों पर काम करते थे। कालान्तर में मुग़ल-साम्राज्य का पतन होने पर वे लखनऊ चले आये, परन्तु राज-घराने से उनका सम्बन्ध बना ही रहा। कहते हैं कि

जीवन-परिचय

एक बार जहाँदारशाह के साथ सेठ तुलाराम काशी आये और तब से वह वहीं रहने लगे। वह रत्नाकरजी के परदादा थे। रत्नाकरजी के पिता का नाम श्री पुरुषोत्तमदास था। वह फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ फ़ारसी तथा हिन्दी-कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनकी बड़ी मित्रता थी। वह प्रायः उनके कवि-समाज में सम्मिलित भी हुआ करते थे। इससे रत्नाकरजी को भी भारतेन्दु के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। इस प्रकार बचपन से ही उनके बाल-हृदय में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही अपनी कवित्व-शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि भारतेन्दुजी ने उनकी एक रचना से प्रसन्न होकर कहा—'यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा।' भारतेन्दुजी का वह आशीर्वाद विद्यार्थी जगन्नाथदास ने सत्य करके दिखला दिया।

रत्नाकरजी की शिक्षा काशी में ही हुई। आरम्भ में उन्हें समय की प्रगति के अनुसार फ़ारसी भाषा का अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिन्दी भी सीखी। सन् १८९१ ई० में उन्होंने फ़ारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एम० ए० में भी फ़ारसी पढ़ी; परन्तु किसी कारण से वह एम० ए० की अंतिम परीक्षा न दे सके। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् सन् १९०० ई० के लगभग रत्नाकरजी ने आवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी की। वहाँ का जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न था। ऐसी दशा में उन्होंने वहाँ से पदत्याग दिया और काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर रहने के पश्चात् उन्होंने अयोध्या-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। सन् १९९० ई० में उनके स्वर्गवास के पश्चात् अयोध्या की महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अन्त तक वह इसी पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक काम करते रहे। आषाढ़ सौर ७ सं० १९८९ को हरद्वार में उनका शरीरान्त हुआ।

हिन्दी में प्रवेश करने पर रत्नाकरजी ने कई मौलिक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य-रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी, गंगा-विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कल-काशी तथा उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रन्थ लिखे। गंगा-वतरण महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। यह जब अधूरा ही था तब महारानी ने उनकी रचना से प्रसन्न होकर उन्हें १०००) पुरस्कार दिया। उन्होंने यह पुरस्कार स्वयं न लेकर नागरी-प्रचारिणी-सभा को दान कर दिया। इस काव्य-ग्रन्थ पर उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी से भी ५००) का एक पुरस्कार मिला। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ फुटकर कविताएँ भी हैं। उन्होंने चन्द्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हित-तरंगिणी और दूलह के कंठाभरण का भी सम्पादन किया और अँग-रेजी-कवि पोप के समालोचना-सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य Eassay on Criticism का भी रोला छन्दों में अनुवाद किया। कई वर्षों तक वह अपने सहयोगियों के साथ 'साहित्य-सुधानिधि' नाम का मासिक पत्र भी निकालते रहे। इस पत्र में उनके कुछ काव्य तथा दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे। उन्हें डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी 'लाल चन्द्रिका' में उद्धृत किया। उन्होंने बिहारी-रत्नाकर नामक बिहारी सतसई की एक ललित टीका भी लिखी है जिसका हिन्दी-संसार में बड़ा आदर है। अपने अन्तिम जीवन में उन्होंने 'सूरसागर' के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन की ओर भी ध्यान दिया और परिश्रम से उसका कार्य किया; परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से यह कार्य अधूरा ही रह गया। उनकी समस्त रचनाओं का एक संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने 'रत्नाकर' के नाम से प्रकाशित किया है। इन रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह केवल कवि ही नहीं, भाष्यकार, भाषा-तत्त्ववित् और पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। प्राकृत भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वह गद्य-लेखक भी थे। उन्होंने कई ऐसे लेख लिखे थे जिनके कारण

रत्नाकर की रचनाएँ

आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। उनके लेख बड़े गवेषणापूर्ण भावपूर्ण और रचनात्मक होते थे।

रत्नाकरजी का काव्य-विषय शुद्ध पौराणिक है। उन्होंने सूर आदि भक्त कवियों की भाँति पौराणिक कथाओं को ही अपनाया है।

रत्नाकर की काव्य-साधना

उद्धवशतक, गंगावतरण, हरिश्चन्द्र आदि उनकी रचनाएँ हमारे सामने प्राचीन युग का उच्च आदर्श ही उपस्थित करती हैं। भक्त-कवियों ने जहाँ इन कथाओं में अपनी भावुकता का मिश्रण करके अपने सरस हृदय का परिचय दिया है, वहाँ रत्नाकर ने उनमें भावों की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण करके उन्हें ओजपूर्ण बना दिया है। इस प्रकार रत्नाकर हमारे सामने एक कलाकार के रूप में ही आते हैं। भक्त-कवियों में रस की धारा बहती है, रत्नाकर में सूक्तियाँ मिलती हैं।

रत्नाकर की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. प्रबन्ध और २. मुक्तक। उनके प्रबन्ध-काव्य में हरिश्चन्द्र, गंगावतरण तथा उद्धव-शतक की गणना की जाती है। हरिश्चन्द्र में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है; गंगावतरण में सगर-सुतों का पाताल-प्रवेश और गंगा का स्वर्ग से आगमन की कथा है; उद्धव-शतक में गोपियों का उद्धव से सम्वाद है। यही शतक रत्नाकर की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें उनके भावों की मौलिकता तथा उक्तियों की नवीनता का अपूर्व आनन्द मिलता है। यह उनका कृष्ण-काव्य है। इन समस्त प्रबन्ध-काव्यों में रत्नाकर ने व्रजभाषा के प्राचीन कवियों की अपेक्षा अपनी भावुकता से अधिक काम लिया है। घटना और पात्रों का निर्वाह करने की चिन्ता में व्रजभाषा के प्राचीन कवियों ने प्रबन्ध-काव्य के भीतर जिन विषयों का समावेश नहीं कर पाया, उन विषयों की ओर रत्नाकर ने ध्यान देकर एक बहुत बड़ी कमी को पूरा कर दिया है।

रत्नाकर ने मुक्तक काव्य की भी रचना की है। उन्होंने इन

फुटकर पदों में ऋतु-सम्बन्धी अष्टक लिखे हैं जो व्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन की तुलना में आगे बढ़े हुए हैं। इनमें उनका कलाविद् रूप ही अधिक स्पष्ट है। उन्होंने समस्यापूर्ति भी की है; पर उनके ऐसे पदों में उच्च कोटि का संगीत नहीं है। उनसे मन को उत्तेजना मिल सकती है, मन में टीस उत्पन्न नहीं हो सकती।

भावना के क्षेत्र में रत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भावलोक के कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने भावों का चित्रण एक फोटोग्राफर की भाँति किया है। इतना ही नहीं, भावनाओं के चित्रण के साथ ही उन्होंने क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न प्रकार की बाह्य चेष्टाओं की अत्यन्त सुन्दर, सजीव और आकर्षक तसवीरें भी उतारी हैं। इसका कारण है उनकी निरीक्षण-शक्ति। वह किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नहीं खींचते। वह दृश्यों के चित्रांकन में अपनी निरीक्षण-शक्ति से काम लेते हैं। इसीलिए उनकी शैली इतनी सजीव है, उनकी कला इतनी जागरूक है।

मानवीय व्यापारों की भाँति ही वह पशु-जगत् के व्यापारों से भी परिचित हैं। अतः उन्हें पशु-जगत् के व्यापारों के चित्रण में भी पूरी सफलता मिली है। रत्नाकर की दृष्टि बहुत पैनी है। वह रीतिकालीन कवियों की भाँति किसी परिपाटी का आँख मूँदकर अनुकरण नहीं करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने में वह उन समस्त उपकरणों से काम लेते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है। उनके प्रकृति के चित्रों में भी हम उनकी इसी मनोदिशा का परिचय पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रत्नाकर बाह्य तथा आन्तरिक दोनों जगत् के चित्रांकन में कुशल हैं। वह स्वयं काव्य-मंच से दूर हटकर खड़े हो जाते हैं और उन पुरुषों, स्त्रियों तथा प्राकृतिक दृश्यों को, सृष्टि-गोचर विशेषताओं के साथ, हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जिनके भावों की व्यञ्जना अपेक्षित है। उनके इस प्रकार के चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से उनका हृदय भी

स्पष्ट झलकने लगता है।

रत्नाकर काव्य-कला के पंडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावों पर तो उनका इतना जोरदार अधिकार है कि वह उनके प्रवाह में आकर वर्ण्य विषय से कभी नहीं भटकते। वह भावों के केन्द्रीयकरण के आचार्य हैं। उनकी विचार-धारा समय की सीमा के भीतर बहती है, इसीलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं। उनकी कल्पनाएँ भी इसी प्रकार उनकी रचनाओं में आई हैं। उनकी कल्पनाओं से उनकी रचनाओं को बल मिला है, उनकी अनुभूतियों को सौंदर्य प्राप्त हुआ है। रत्नाकर अपनी कल्पना के सहारे अपने भावों को तीव्रतर बनाकर पाठक के हृदय में उतारने की क्षमता रखते हैं। वह भाव-भूमि तक पाठकों को पहुँचाकर स्वयं कल्पना करने का उन्हें अवसर भी देते हैं। वह भावना की सीमा नहीं बाँधते। वह स्वयं भावुक हैं और अपने साथ अपने पाठक को भी भावुक बनाते हैं।

रत्नाकर की भाषा और शैली

रत्नाकर के काव्य-ग्रन्थों की भाषा ब्रजभाषा है। वह ब्रजभाषा-प्रेमी थे। जिस समय उन्होंने हिन्दी के पुनीत प्राङ्गण में प्रवेश किया, उस समय काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। अतएव उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का उसी को माध्यम बनाया; परन्तु उन्होंने उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनके सामने ब्रजभाषा का जो स्वरूप था उसे वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि द्विजदेव तथा भारतेन्दु ने उसका संस्कार कर दिया था; पर उतने से उन्हें सन्तोष नहीं था। वह खड़ीबोली के सामने ब्रजभाषा के माधुर्य को, उसकी कोमलता और उसकी सरसता को एक बार फिर लाना चाहते थे। वह अँगरेजी, फारसी तथा उर्दू के विद्वान् थे। इसलिए उन्होंने ब्रजभाषा के संस्कार में उन समस्त विधियों से काम लिया जिनके कारण उसे कोई लोकप्रियता पुनः प्राप्त हो सके।

ऐसा करने में उन्होंने भाषा की स्वतंत्र प्रवृत्ति का पूरा ध्यान रखा। उन्होंने भूले हुए मुहावरों को अपनाया, लोकोक्तियों को स्थान दिया और बोल-चाल के शब्दों से भाषा को सुसज्जित किया। उन्होंने ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे शब्दों और उनके प्रयोगों को हटा दिया जो बहुत घिसकर साधारण जनता के प्रयोगों से दूर हो चुके थे और केवल परम्परा के पालनार्थ ही रखे जाते थे।

रत्नाकर भाषा के जौहरी थे। वह शब्द-रत्न का मूल्य आँकने में अपने समय के आचार्य थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में उनकी शब्द-योजना निर्दोष है। उन्होंने भावों तथा परिस्थितियों के अनुकूल ऐसे सुन्दर शब्दों का चयन किया है और उन्हें अपनी रचनाओं में ऐसे कलापूर्ण ढङ्ग से सजाया और सँवारा है कि उनके आन्तरिक भावों को समझने में कहीं बाधा नहीं पड़ती। एक उदाहरण लिजिए :—

सुन सुरपति अति आतुरता-जुत कह्यौ जोरि कर।
"कौन भूप हरिचंद ? कहौ हमसहुँ कछु मुनिवर ॥"
"सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यो नारद उछाह सौं।
ताकी चरचा करन माँह चित चलत चाह सौं ॥

इस अवतरण में भाषा का प्रसाद गुण देखने योग्य है। रत्नाकर का अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और यह अधिकार उन्होंने साधना के पश्चात् प्राप्त किया है। 'हिंडोला' तथा 'समालोचना आदर्श' में उनकी भाषा मँजी हुई और स्वाभाविक नहीं है; पर वही ख़राद पर चढ़ने के पश्चात् उद्धव-शतक तथा गंगावतरण में इतनी निखर आई है कि उसमें नाम-मात्र को भी शिथिलता नहीं दिखाई देती। उनकी भाषा में उर्दू का लालित्य और ब्रज का माधुर्य है। शब्द-चयन में, उन्हें अवसरानुकूल सजाने सँवारने में, उनकी आत्मा में घुसकर उनका मर्म परखने में, रत्नाकर उर्दू-कवियों को भी मात करते हैं। व्याकरण सम्बन्धी दोष उनकी भाषा में नहीं हैं।

रत्नाकर की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी आये हैं; पर उनसे व्रजभाषा का सौंदर्य क्षीण नहीं हुआ है। उन्होंने तत्सम शब्दों का अपने स्वाभाविक ढङ्ग से प्रयोग किया है। उन्होंने न तो कहीं कठिन अथवा अप्रचलित फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं स्वाभाविकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं, पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकनेवाला नहीं। शब्दों के कुछ देशी प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलते हैं; परन्तु उनसे भाषा का सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ है। उन्होंने काशी की बोली से शब्द लेकर बड़े कौशल से उन्हें व्रजभाषा के ढाँचे में ढाला है।

रत्नाकरजी की शैली उत्कृष्ट और प्रवाहपूर्ण है। उन्होंने जिन विधानों से अपने जीवन में भाव ग्रहण किया है, उन्हीं विधानों की काव्योचित प्रतिष्ठा करके उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया है। हरिश्चन्द्र-काव्य का एक प्रसंग लीजिए। नारद जब इन्द्र-सभा में पहुँचे तब उनके मुख पर प्रसन्नता के चिह्न देखकर इन्द्र ने पूछा :—

पुनि पूछ्यौ सुरराज, आज मुनि आवत कित तैं।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यो जो चित तैं॥

नारद भगवान् इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं :—

अहो सहसदृग साधु! बात साँची अनुमानी।

ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर मानवीय व्यापारों को परखने तथा उनका यथातथ्य चित्रण करने में अत्यन्त कुशल हैं। यही उनकी शैली की विशेषता है। उनकी तरह अन्य कवियों ने भी इस शैली का अनुकरण किया है, पर उनमें वह रोचकता, वह स्वाभाविकता नहीं आने पाई है जो रत्नाकर की शैली में है। रत्नाकर की दृष्टि अनुभावों के निरीक्षण में बहुत पैनी है। इसीलिए उनकी शैली में स्वाभाविकता है, ओज है। रत्नाकर की अधिकांश रचना इसी शैली में है। उनकी शैली में भाषा और भावों का इतना सुन्दर

सामञ्जस्य है कि वह अपने वर्ग के कवियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नाकर आधुनिक वर्ग के कवि नहीं थे; पर अपने काल की रुचि और उसकी आवश्यकताओं की ओर से वह उदासीन नहीं थे। इसीलिए उन्होंने ब्रजभाषा का संस्कार किया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह खड़ीबोली के सामने अपना माधुर्य प्रकट करने में समर्थ हो सके। रत्नाकर को इस कार्य में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनकी कल्पना-शक्ति, सुसंगठित निर्मल भाषा, उक्ति-प्रवीणता, कलापूर्ण भावप्रदर्शन और मार्मिक मुद्रा-चित्रण के सहयोग से उनकी काव्य-धारा में गंगा की-सी गम्भीरता और मधुर-भाषी पक्षियों का सा कलरव है। उनकी रचनाओं को देखकर कौन कह सकता है कि वह जीवित नहीं हैं।

—२०—

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म सं० १९४३

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म, श्रावण शुक्ल द्वितीया चंद्रवार, सं० १९४३ को चिरगाँव, ज़िला झाँसी में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण का हिन्दी-कविता के प्रति विशेष प्रेम था। वह कविता भी करते थे। उनकी रचनाओं में भक्ति-रस का प्रवाह रहता था। 'कनकलता' उनका उपनाम था। राम के विष्णुत्व में उनका अटल विश्वास था। वह प्रायः उन्हीं के गीत गाते थे। उनके यहाँ भक्त और कवि बराबर आते-जाते रहते थे। वैश्य होने के कारण वह व्यापार-कुशल भी थे। लेन-देन का काम उनके यहाँ अधिक होता था। ऐसे सात्विक वातावरण में बाबू

जीवन-परिचय

मैथिलीशरण गुप्त और बाबू सियारामशरण गुप्त ने जन्म लेकर अपने वंश का ही नहीं, अपनी जन्म-भूमि का भी मस्तक ऊँचा कर दिया। सेठजी के पाँच पुत्रों में से दो—मैथिलीशरण और सियारामशरण—कवि हो गये और शेष तीन रामदास, रामकिशोर और चारुशील-शरण—अपनी कुल-परम्परा के अनुसार व्यापार की ओर झुक गये।

गुप्तजी प्रारंभ में अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के लिए झाँसी गये, पर वहाँ उनका मन नहीं लगा। अपनी बाल्यावस्था में गुप्तजी बड़े खिलवाड़ी थे, अतः वह घर लौट आये। सेठजी ने घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। सेठजी की भक्ति-भावना और काव्य-साधना के प्रभाव से गुप्तजी ने प्रमुखतः हिन्दी-साहित्य को ही अपनी साधना का केन्द्र बनाया। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति काव्य की ओर झुकी और वह टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे। उनके पिता एक कापी में अपनी रचनाएँ लिखा करते थे। एक दिन अवसर पाकर गुप्तजी ने भी उसमें एक छप्पय लिख दिया। सेठजी ने अपनी नवीन रचना लिखने के लिए जब कापी खोली तब उसमें उन्हें एक छप्पय लिखा मिला। अक्षर मैथिलीशरण के थे। उस छप्पय को पढ़कर वह मैथिलीशरण की काव्य-प्रतिभा पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनका वह आशीर्वाद सत्य हुआ। आज गुप्तजी की रचनाओं पर हिन्दी को गर्व है।

गुप्तजी अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में जो रचनाएँ किया करते थे वह प्रायः कलकत्ते से निकलनेवाले जातीय पत्र में प्रकाशित होती थीं, पर स्वर्गीय द्विवेदीजी के सम्पर्क में आने पर उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश 'सरस्वती' द्वारा हुआ द्विवेदीजी सरस्वती द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरंभ कर रहे थे। खड़ी बोली के वह आचार्य थे। अतः उन्होंने गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं की भाषा तथा भावों का परिशोधन

किया। इससे गुप्तजी का उत्साह बढ़ गया। गुप्तजी द्विवेदीजी को अपना काव्य-गुरु मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। इस समय उनकी समस्त रचनाओं का हिन्दी में बड़ा आदर है। 'साकेत' उनका महाकाव्य है। इस पर साहित्य-सम्मेलन से उन्हें 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी मिल चुका है।

गुप्तजी की रचनाएँ

गुप्तजी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. अनूदित और २. मौलिक। उनकी अनूदित रचनाओं में दो प्रकार का साहित्य है—कुछ काव्य और कुछ नाटक। 'विरहिणी व्रजांगना' बंगाली के लब्धप्रतिष्ठ कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी-अनुवाद है। 'मधुप' उपनाम से उन्होंने वीरांगना, मेघनाद-वध तथा पलासी-युद्ध का बँगला से हिन्दी में अनुवाद किया है। फारसी के विश्व-विख्यात कवि उमरखय्याम की रुबाइयों के अँगरेजी-कवि फिट्जजेराल्ड कृत अनुवाद को हिन्दी रूप देने में भी उन्हें सफलता मिली है। इन अनूदित काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के यशस्वी नाटककार 'भास' के 'स्वप्नवासवदत्ता' का भी उन्होंने अनुवाद किया है। अनघ, चन्द्रहास और तिलोत्तमा उनके पद्य-बद्ध रूपक हैं। मौलिक काव्य-ग्रन्थों में रंग में भंग, जयद्रथ-वध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु तेगबहादुर, हिन्दू, शक्ति, सौरन्ध्री, वन-वैभव, वक-संहार, झंकार और साकेत की गणना की जाती है। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष, साकेत के बाद के प्रकाशन हैं। विकट भट, मौर्यविजय, मंगलघट, त्रिपथगा, तथा गुरुकुल भी उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उन्होंने अपनी अनूदित तथा मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है और इस समय अपनी वृद्धावस्था में भी बराबर साहित्य-सृजन का कार्य करते जा रहे हैं। उनका अब तक का साहित्य काव्य-शैली की दृष्टि

से चार प्रकार का है—१. गीति-नाट्य, २. खण्ड-काव्य, ३. महाकाव्य और ४. गीतिकाव्य। विषय की दृष्टि से उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. भाव-प्रधान और २. इतिवृत्तात्मक। गुप्तजी अपनी रचनाओं में प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। रंग में भंग, विकट भट, जयद्रथ-वध, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत और यशोधरा उनकी इतिवृत्तात्मक रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ भी मुख्यतः दो प्रकार की हैं—१. कथा-सूत्रग्राही इतिवृत्तात्मक, जैसे रंग में भंग और २. विविध दृष्टान्तों के इतिवृत्तात्मक, जैसे हिन्दू।

गुप्तजी की काव्य-साधना

हिन्दी-काव्य-साहित्य में गुप्तजी का प्रवेश एक महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना है। उनका समस्त काव्य जीवन और जगत् की परिभाषा के रूप में व्यक्त हुआ है। प्राचीन खँडहरों की महत्वपूर्ण सामग्री लेकर उन्होंने उसका जीर्णोद्धार ही नहीं किया, वरन् मूर्तियों को जोड़-तोड़कर उन्होंने उनमें नया रंग भी भर दिया है। उनकी काव्य-सामग्री दो प्रकार की है—१. वस्तु-सम्बन्धिनी और २. भाव-सम्बन्धिनी। उनकी वस्तु-सम्बन्धिनी रचनाओं में उनके खण्ड-काव्य और महाकाव्य आते हैं। इस दिशा में हमें उनकी कृतियों में छः मुख्य दिशाएँ दिखाई देती हैं—१. राष्ट्रीय, २. महाभारत की कथाएँ, ३. रामचरित की कथाएँ, ४. बौद्धकालीन कथाएँ, ५. ऐतिहासिक कथाएँ, ६. पौराणिक कथाएँ। राष्ट्रीय रचनाओं में भारत-भारती और किसान आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत-भारती उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय जनता को नव जागरण का सन्देश दिया है और उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को संयत और विकसित किया है। इसमें कवित्व नहीं, एक देश-भक्त के क्रान्तिकारी हृदय से निकले हुए उद्‌गार हैं जिनका चित्रण ऐतिहासिक सामग्री के बल पर किया गया है। अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेद-भावपूर्ण नीति तथा वर्तमान काल की विपन्नावस्था का वर्णन करके उन्होंने हमारे सामने

यह समस्या रख दी है :—

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।

राष्ट्रीयता के दो पक्ष होते हैं—१. सामाजिक और २. राजनीतिक। राजनीतिक पक्ष में गुप्तजी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उद्धार की बात एक साथ सोचते हैं, पर सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण है। वह हिन्दू हैं और हिन्दुओं की परिस्थितियों से भलीभाँति परिचित हैं। धार्मिक क्षेत्र में वह रामोपासक हैं, इसलिए वह अपनी उपासना की मर्यादा के अनुकूल ही हिन्दू समाज का नियंत्रण और सुधार करते हैं। अन्य मतों के प्रति वह उदार हैं। संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता से वह बहुत ऊपर उठे हुए हैं। बाल-विवाह, अछूतोद्धार तथा अन्य ऐसी कुरीतियों से हिन्दू-समाज को जो क्षति पहुँची है, उसका हल भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'हिन्दू' उनकी हिन्दू-भावनाओं से ओत-प्रोत रचना है। जिस प्रकार वह भारत-भारती में समस्त राष्ट्र के लिए छटपटाते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार 'हिन्दू' में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सिक्ख, बौद्ध आदि विभिन्न वर्गों के उत्थान के लिए व्याकुल हैं।

गुप्तजी की दूसरे प्रकार की रचनाएँ हैं राम-कथा सम्बन्धी। पञ्चवटी, साकेत आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में से पञ्चवटी एक खण्ड-काव्य है। इसका हिन्दी-साहित्य में विशेष सम्मान है। भाव, भाषा तथा छन्द की दृष्टि से यह उच्च कोटि की रचना है।

गुप्तजी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ हैं महाभारत-सम्बन्धी। इन रचनाओं में जयद्रथ-वध, बक-संहार, वन-वैभव, द्वापर और सैरन्ध्री आदि हैं। भाव, भाषा और काव्य की दृष्टि से यद्यपि पञ्चवटी की-सी कला इनमें नहीं है तथापि उनमें अन्तरोल्लास वैसा ही है। बौद्ध-कालीन रचनाओं में यशोधरा और अनघ का मुख्य स्थान है। यशोधरा प्रबन्ध-काव्य है। इसमें भगवान् बुद्ध और यशोधरा की कथा है।

अनघ पद्यबद्ध रूपक है। पलासी का युद्ध, गुरुकुल, पत्रावली, रंग में भंग आदि ऐतिहासिक कथानकों से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ हैं। पौराणिक रचनाओं में चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला और नहुष का स्थान है। इनमें से प्रथम दो रूपक हैं और शेष खण्ड-काव्य हैं। इनके अतिरिक्त झंकार आदि में उनकी फुटकल कविताएँ संगृहीत हैं। इन कविताओं से उनकी भावाभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही इन कविताओं की रचना हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों ही प्रकार की पर्याप्त कविताएँ लिखी हैं, पर उनका काव्य-गौरव मुक्तक कविताओं में उतना नहीं है, जितना उनके प्रबन्ध एवं खण्ड-काव्य में है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुछ कवियों की वृत्ति कथात्मक होती है और कुछ कवियों की भावात्मक। कुछ कवियों में दोनों का चरमोत्कर्ष भी पाया जाता है। गुप्तजी प्रमुखतः कथात्मक वृत्ति के कवि हैं, पर जैसा कि हम कह चुके हैं उन्होंने मुक्तक गीतों की भी रचना की है। उनके मुक्तक गीतों से हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। उनके गीत दो प्रकार के हैं—१. आधुनिक शैली के और २. परम्परागत पद शैली के। आधुनिक शैली के अन्तर्गत उनके गीत दो प्रकार के हैं—१. राष्ट्रीय और २. रहस्यवादी। उनके राष्ट्रीय गीतों पर वर्तमान युग की गहरी छाप है। स्वदेश संगीत में उनके राष्ट्रीय गीत हैं। झंकार गुप्तजी की मुक्तक और भावात्मक कविताओं का संग्रह है। इसकी अधिकांश कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आ जाती हैं। गुप्तजी सगुणोपासक वैष्णव कवि हैं। इसलिए उनकी रहस्यवाद की कृत्तियों में भी सगुणोपासना का स्वर है।

गुप्तजी के गीति-काव्य का अन्तरंग व्यक्तिगत साधना पर अवलम्बित है। कोरी कल्पना के गीत वह नहीं गाते। वह अच्छी तरह गा भी नहीं सकते। उन्होंने अपने गीति-काव्य की सामग्री न तो

ईश्वर-प्रेम से ली है और न विश्व-प्रेम से। देश-प्रेम अथवा हिन्दू-समाज की करुणाजनक परिस्थितियों से अनुप्राणित होने पर भी उन्होंने स्वतन्त्र रूप से गीतों की रचना नहीं की है। प्रसंगानुकूल ही उन्होंने अपने गीतों की रचना की है। इसीलिए उनके गीतों में आवश्यकता से अधिक प्रसार आ गया है। पर इस दोष के होते हुए भी उनके गीतों में नवीन आकर्षण, वियोगिनी की विरह-व्यथित वेदना का संचार, गहरी अनुभूति और भावावेश के कोमल व्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यंजना पर्याप्त है।

गुप्तजी के काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। हम यह बता चुके हैं कि गुप्तजी काव्य-क्षेत्र में १. प्रबन्धकार, २. गीतिकार और ३. नाटककार हैं। अतः हम उनकी शैली भी तीन रूपों में पाते हैं—१. प्रबन्ध-शैली, २. गीति-शैली और ३. नाटक-शैली। प्रबन्ध-काव्य में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है। गुप्तजी ने अपनी प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत शेष दोनों शैलियों को अपनाया है; अतः हम उनकी रचना-शैली के भाव, भाषा तथा कथा-प्रवाह की दृष्टि से वर्गीकरण करेंगे। वर्गीकरण करने पर हमें उनकी चार प्रकार की शैलियाँ मिलेंगी :—

गुप्तजी की भाषा और शैली

१. **प्रबन्धात्मक शैली**—गुप्तजी के अधिकांश काव्य इसी शैली में हैं। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-बध' आदि इसी शैली में लिखे गये हैं। यह शैली दो प्रकार की है—१. खण्ड-प्रबन्ध और, २. महाप्रबन्ध। 'साकेत' महाकाव्य की शैली में है और शेष खण्ड-काव्य की शैली में। इन दोनों शैलियों में गुप्तजी सफल हैं। पञ्चवटी उनका सबसे अधिक सफल खण्ड-काव्य है। कथा का निर्वाह इन समस्त काव्यों की विशेषता है।

२. **उपदेशात्मक शैली**—इस शैली का उपयोग उन्होंने हिन्दू, गुरुकुल, भारत-भारती, रंग में भंग, बक-संहार तथा जयद्रथ-बध

आदि रचनाओं में प्रमुख रूप से किया है। इन ग्रन्थों में कवि का उपदेशक रूप सराहनीय है। प्राचीन कथाओं की भित्ति पर वर्तमान वातावरण के अनुकूल उनके पात्रों के मुख से निकले हुए उपदेश बड़े मार्मिक, गम्भीर और अनुकरणीय हैं। यह शैली साधारण और अलंकृत दो प्रकार की हैं। अलंकृत शैली में शब्दालंकारों की सहायता से भाषा में ओज भरा गया है; साधारण शैली में भाषा का स्वाभाविक रूप वर्तमान है।

३. गीति-नाट्य शैली—इस शैली में गुप्तजी ने नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया है। कथोपकथन पद्य में है, शेष गद्य में। 'अनघ' इसका उदाहरण है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'यशोधरा' भी गीति नाट्य शैली के अनुसार लिखे गये हैं, पर 'यशोधरा' के अतिरिक्त इस दिशा में गुप्तजी को विशेष सफलता नहीं मिली है।

४. गीति-काव्यात्मक शैली—गुप्तजी ने आधुनिक और प्राचीन शैली के ढङ्ग पर गीत भी लिखे हैं। 'झंकार' उनके गीतों का संग्रह है। इस सग्रह के गीतों में भावनाएँ तो संगीतमय हो उठी हैं, पर स्वाभाविक अनुभूति-चित्रण की कमी है। शब्दों में भी मिठास नहीं है। उन्होंने रहस्यवाद और छायावाद की शैली में भी गीत लिखे हैं। उनके गीत दो प्रकार के होते हैं—१. साधारण और २. अलंकृत। भाषा और अलंकार की दृष्टि से वह दोनों में सफल हैं। उनके गीतों में स्वाभाविक प्रवाह है, पर विरह-गीतों को छोड़कर शेष में तन्मयता, सौंदर्यानुभूति और स्वाभाविक वेदना का अभाव-सा है।

गुप्तजी की शैली स्पष्ट, प्रभावोत्पादक, शिष्ट, संयत, गंभीर, प्रसाद, माधुर्य और ओज से परिपूर्ण होती है। उनकी शैली में भाषा की प्राञ्जलता वर्तमान रहती है। 'हरिऔध' की भाँति भाषा की नियम-बद्धता उनकी शैली में नहीं है। वह बड़े-बड़े पद नहीं लिखते। उनकी शैली में एक विशेष आकर्षण है जिसके कारण वह शीघ्र पहिचाने जा सकते हैं। सारांश यह कि गुप्तजी अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं।

गुप्तजी की भाषा खड़ीबोली है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी भाषा में न तो वे त्रुटियाँ अधिक मात्रा में हैं जो भारतेन्दु के समसामयिक और परवर्ती कवियों की एक विशेषता रही है और न दुरूहपन ही उनमें कहीं उल्लेखनीय मात्रा में देखा जाता है। उनकी रचनाओं में उनकी काव्य-कला का ज्यों-ज्यों विकास हुआ है, त्यों-त्यों उनमें उनकी भाषा भी प्रौढ़, प्रसादपूर्ण और भावानुकूल होती गई है। 'भारत-भारती' की भाषा में जो कर्कशता, रूखापन और नीरसता है वह उनकी अन्य रचनाओं में उत्तरोत्तर कम होती गयी है। पञ्चवटी तक पहुँचते-पहुँचते उनकी भाषा का रूप निखर आया है और उसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रसाद और माधुर्य आ गया है।

गुप्तजी की भाषा पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का पूरा प्रभाव है। कहीं-कहीं अप्रचलित शब्द भी मिलते हैं। अम्बुद, त्वंप, जिष्णु आदि ऐसे ही शब्द हैं। तुक में इनसे सहायता भले ही मिल जाय, पर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और लय में इनसे अधिक बाधा पहुँची है। कुछ शब्दों का उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। संस्कृत का प्रभाव उनकी पद-योजना पर भी है। शब्दों के लचर प्रयोग भी मिलते हैं, पर कम। कहीं-कहीं तद्भव और तत्सम शब्दों को जोड़कर भाषा का सौंदर्य भी बिगाड़ा गया है।

गुप्तजी की भाषा पर दूसरा प्रभाव है प्रान्तीयता का। हिन्दी में अनेक प्रान्तीय बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण प्रायः वर्जित है, पर शब्द की उपयुक्तता की दृष्टि से इस नियम का सर्वथा पालन नहीं किया जाता। गुप्तजी ने ऐसे शब्दों को भी अपनाया है। भर के, झींमना, छींटना, अफ़र, धड़ाम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो उनकी भाषा में मिलते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से कहीं-कहीं भाषा को बल मिला है, पर कहीं-कहीं हानि भी हुई है। कुछ क्रियारूप भी प्रान्तीय हैं। कीजो, दीजो आदि में साहित्यिकता कम, पण्डिताऊपन अधिक है।

उर्दू, फ़ारसी के एकाध ही शब्द मिलते हैं और वह भी केवल तुक के आग्रह के कारण। गुप्तजी की भाषा व्याकरण-सम्मत है। उसमें अन्वय-दोष नहीं है। वाक्य पूरे और सुलझे हुए हैं। संवादों की भाषा पर अँगरेज़ी शैली का कुछ प्रभाव अवश्य है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, पर कम। कहीं-कहीं उनका स्वाभाविक रूप बदल दिया है। इससे भाषा का सौंदर्य नष्ट हो गया है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने प्रकृत रूप में ही साहित्य की निधि हैं और उसी रूप में उनका प्रयोग उचित है।

गुप्तजी वर्तमान काल के सब से अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी रचनाओं का सभी आनन्द लेते हैं। प्राचीन और नवीन युग की जो अनेक शैलियाँ साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किये हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं, द्विवेदी-युग के कवि उन्हें प्रायः नेता के रूप में ग्रहण करते हैं, छायावादी कवि भी उनमें अपने मनोनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ खोज लेते हैं, राष्ट्रीय कवि उनमें राष्ट्रीयता की मर्यादा की झलक पाते हैं और समाज-सुधारकों को भी उनमें समाज-सुधार की बहुत सी बातें मिल जाती हैं। गुप्तजी ने सब के लिए कुछ-न-कुछ लिखा है। इस प्रकार वर्त्तमान समय के सभी दलों को, अल्पाधिक मात्रा में, उनसे संतोष लाभ हो जाता है। उनके पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है। अभी गुप्तजी की अवस्था अधिक नहीं है। उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता भी सचेष्ट है। इस समय वह गीतों की ओर अधिक झुके हुए हैं और हिन्दी साहित्य का भाण्डार गीतों से भर रहे हैं। वह जो कुछ आगे लिखेंगे, भविष्य उसका मूल्यांकन करेगा पर उन्होंने अब तक जो कुछ लिखा है, वह अपने में महान है और हम उन्हें द्विवेदी-युग का सर्वप्रथम कवि समझते हैं।

—२१—

माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म सं० १६४५

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म चैत्र शुक्ल ११, सं० १६४५ को मध्य प्रान्त के होशंगाबाद ज़िले के अन्तर्गत बाबई नामक ग्राम में हुआ था। उनके पूर्वज रानोली—जयपुर—के रहने वाले थे और वहाँ से आकर बाबई में स्थायी रूप से रहने लगे थे। उनके पिता, पं० नन्दलाल चतुर्वेदी, शिक्षा-प्रेमी थे। अतः उन्होंने चतुर्वेदीजी को स्थानीय ग्रामीण पाठशाला में भर्ती करा दिया। इस पाठशाला से चतुर्वेदीजी ने मिडिल की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् सन् १६०३ ई० में उन्होंने नार्मल पास किया। नार्मल पास करके वह सन् १६०४ ई० में खंडवा के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हो गये। अध्यापन-कार्य के साथ-साथ उन्होंने संस्कृत, अंगरेजी, मराठी, गुजराती तथा बंगला-भाषा का भी अध्ययन किया। कुशाग्र बुद्धि और साहित्यिक रुचि होने के कारण इन भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान हो गया।

जीवन-परिचय

चतुर्वेदीजी बाल्यावस्था से ही भावुक और काव्य-प्रेमी थे। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं का प्रौढ़ ज्ञान होने पर वह साहित्य-सृजन की ओर आकर्षित हुए। उन दिनों खंडवा से 'प्रभा' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। इससे उन्हें बहुत प्रोत्साहन मिला। ज्यों-ज्यों उनकी साहित्यिक अभिरुचि बढ़ती गयी त्यों-त्यों अध्यापन-कार्य के प्रति वह उदासीन होते गये। अन्त में उन्हें नौकरी से त्याग-पत्र देना पड़ा। उस समय मध्य प्रान्त में पं० माधवराव सप्रे बड़े प्रतिष्ठित नेता थे। वह हिन्दी-साहित्य-प्रेमी और राष्ट्रवादी थे। अतः चतुर्वेदीजी की

प्रारंभिक रचनाओं की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। फलतः उन्होंने चतुर्वेदीजी के सहयोग से 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र निकालना आरंभ किया। कुछ दिनों तक चतुर्वेदीजी ने बड़ी योग्यतापूर्वक इस पत्र का सम्पादन किया। कर्मवीर के सम्पादन-काल में उनकी प्रतिभा को बहुत बल मिला। इससे जनता में उनकी लोक-प्रियता भी बढ़ गयी। अतः धीरे-धीरे वह उसके सम्पर्क में भी आने लगे। उस समय उन्होंने अपनी वाणी और लेखनी से जनता में राष्ट्रीय विचारों का अच्छा प्रचार किया। सन् १९२१ का अखिल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारंभ होने पर उसमें भाग लेने के कारण उन्हें ८ महीने के लिए जेल भी जाना पड़ा। जेल से निकलने के पश्चात् वह फिर राष्ट्रीय आन्दोलन में संलग्न हो गये। 'कर्मवीर' बन्द होने के पश्चात् कुछ समय तक वह 'प्रभा' तथा कानपुर से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का भी सम्पादन करते रहे। कर्मवीर से उन्हें विशेष मोह था। अतः अवसर अनुकूल होने पर उन्होंने पुनः उसे प्रकाशित करना आरम्भ किया। आजकल वह इसी पत्र का प्रकाशन कर रहे हैं।

चतुर्वेदीजी निर्भीक और स्पष्टवादी वक्ता हैं। उनके स्वभाव में मधुरता, कोमलता और उदारता है। गौड़-ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने पर भी प्राचीन पंडितों की-सी कट्टरता उनमें नहीं है। उनके सम्पर्क में आने पर यह ज्ञात नहीं होता कि वह अपने नहीं हैं। अपने देश और राष्ट्र के प्रति वह पूर्ण गाँधीवादी हैं। जीवन के वह खरे आलोचक हैं। उनके विचार सुलझे हुए गंभीर होते हैं। उनके व्यक्तित्व के चार स्पष्ट रूप हैं—वह शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं; पर साहित्य के धरातल पर ये चारों घुलकर एकाकार हो जाते हैं। देशभक्ति उनके लिए परोपकार का प्रतिमान नहीं, आत्म-विकास का माध्यम है। उनकी रचनाएँ 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रकाशित होती हैं। वह सम्मेलन के

सभापति रह चुके हैं।

चतुर्वेदीजी की रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है। ग्रन्थ-निर्माण की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। सामयिक लेख तथा कविता लिखने में ही उन्होंने अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। फिर भी उन्होंने अब तक पुस्तक रूप में जो कुछ लिखा है उसका हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्व है। उनकी रचनाएँ चार प्रकार की हैं:—

चतुर्वेदीजी की रचनाएँ

१. कविता—हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी।

२. नाटक—कृष्णार्जुन युद्ध।

३. गद्य-काव्य—साहित्य देवता।

४. कहानी संग्रह—वनवासी

अब तक चतुर्वेदीजी के यही पाँच ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। हिमकिरीटिनी पर उन्हें अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन से दो हजार रुपये का देवपुरस्कार मिल चुका है।

चतुर्वेदीजी हिन्दी के भावुक और हृदयवादी कवि हैं। उनकी आरम्भिक रचनाएँ देश-भक्ति और राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। उनमें ओज, प्रसाद और माधुर्य का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्यों-ज्यों वह साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते गये हैं त्यों-त्यों उनकी भावुकता विकसित होती गयी है और उनके विचारों में प्रौढ़ता और परिपक्वता आती गयी है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में नवयुग-निर्माण का शुभ संदेश है, राष्ट्रवाद और त्याग की झलक है। वह कोरे कल्पक नहीं हैं। अंगरेजी के प्रसिद्ध काव्य-कलाकार लायल ने एक स्थान पर लिखा है—'किसी काल के मुख्य-मुख्य भावों तथा उच्चादर्शों को प्रभावशाली रूप में अंकित करना और उन्हें जनता के सम्मुख उपस्थित करना ही

चतुर्वेदीजी की काव्य-साधना

काव्य-है।' इस दृष्टिकोण से चतुर्वेदीजी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने जनता के मनोभावों तथा राष्ट्रीय चेतना का बड़ी ही सुन्दरता से अंकन किया है। राष्ट्रीय रचनाओं के अतिरिक्त उनकी भावनामूलक रचनाएँ भी हैं। ऐसी रचनाएँ आन्तरिक भावों से चित्रित हैं। उनमें प्रेम का उफान देखने योग्य होता है। उनकी कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिन्हें हम रहस्यवादी रचनाएँ कह सकते हैं। इस प्रकार हम उनकी समस्त रचनाएँ तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—१. राष्ट्रीय रचनाएँ, २. प्रेमानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ और ३. आध्यात्मिक रचनाएँ।

चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीय रचनाएँ अत्यन्त ओजपूर्ण हैं। उनमें उद्‌बोधन की शक्ति है, उत्सर्ग की आभा है और पतित राष्ट्र को उन्नत रूप देने की कामना है। उनमें राष्ट्र और समाज की वर्त्तमान समस्याओं का अंकन त्याग की पृष्ठभूमि पर किया गया है। त्याग ही चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीय रचनाओं का प्राण है। इसी के बल पर उन्होंने भारत की जनता को नवराष्ट्र-निर्माण का संदेश दिया है। इससे उनकी कविता में एक विशेष ओज आ गया है। देश की वतमान अवस्था का चित्र भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनकी ऐसी रचनाओं में मानव-जीवन के वाह्य क्रन्दन की एक करुण पुकार अंतर्हित है। कर्म में विश्वास रखने के कारण उनकी रचनाएँ समय की संदेश-वाहिका बन गयी हैं और वे हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हो गयी हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता में यद्यपि उनके भाव सरल हैं तथापि सामयिकता के रङ्ग में रँगे होने के कारण उसमें विशेष प्रकार का चुटीलापन और तेज आ गया है।

चतुर्वेदीजी की दूसरे प्रकार की रचनाएँ प्रेमात्मक हैं। ऐसी रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनमें प्रेमाराधना का भाव ही प्रधान है। बहुत से आलोचक उनकी इस प्रकार की रचनाओं में भी राष्ट्रीयता को खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं; पर यह उनकी

भूल है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता और प्रेमाराधना की गङ्गा-यमुना दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं। उनकी दोनों ही प्रकार की रचनाओं में ओज है। उनकी प्रेम-परक कविताओं में प्राचीन हिन्दी कविता का-सा माधुर्य भाव तथा उर्दू की-सी वचन-विदग्धता है। इस क्षेत्र में प्राचीन भाव को नया रूप देकर उन्होंने उन्हें समय के तद्रूप बना दिया। इससे उनमें एक विशेष प्रकार का आकर्षण आ गया है। चतुर्वेदीजी सौंदर्य-प्रिय कवि हैं। इसलिए साधारण-सी साधारण वस्तु में भी वह सौंदर्य का अनुभव करते हैं और अपनी आंतरिक अनुभूति के रँग से उसे रङ्ग देते हैं। उनके प्रेम में त्याग है, टीस है, वेदना है। उनके अन्तर की अभिव्यक्ति एक हार्दिक सहानुभूति पर स्थित है। हृदय में प्रेम का प्रबल उद्वेग होने के कारण ही उनकी प्रेमपूर्ण रचनाओं का उद्भव और विकास हुआ है। उनके हृदय में सूफ़ियों की-सी प्रेमाकुलता तथा कातरता सदैव बनी रहती है। उनका प्रेम साकार से आविर्भूत होकर निराकार में लीन होने की दिव्य आकांक्षा से पूर्ण होता है।

चतुर्वेदीजी की तीसरी प्रकार की रचनाएँ रहस्यवादी, आध्यात्मिक अथवा छायावादी हैं। पर ऐसी रचनाएँ उन्होंने कम लिखी हैं। बात यह है कि वह मुख्यतः राष्ट्रवादी कवि और ओजस्वी वक्ता हैं। राष्ट्रीयता उनके जीवन के प्रत्येक क्षण में साथ रहती है। इसलिए वह रहस्यवाद की ओर कम झुके हैं। भावना-प्रधान होने के कारण ही उन्होंने कुछ आध्यात्मिक रचनाएँ की हैं। ऐसी रचनाओं पर उनके भावुक हृदय की स्पष्ट छाप देखने को मिल सकती है। इस दिशा में भी उन्होंने अपने भाव-विकास के लिए अन्य आधुनिक कवियों की भाँति बंगला और अंगरेजी साहित्य का साहाय्य न लेकर चिरपरिचित प्राचीन हिन्दी-कविता से ही उत्प्रेरणा ग्रहण की है और अपनी आराधनामयी आत्मा को खड़ीबोली के कलेवर में अधिष्ठित किया है। कहीं-कहीं उनकी रहस्यवादी पंक्तियाँ कबीर की शैली पर बड़े अच्छे

ढङ्ग से चली हैं। कबीर की भाँति वह प्रायः अस्पष्ट भी हो गये हैं। इसलिए उनका अध्यात्म प्रायः दुरूह है। वह समझ में कम आता है। उसमें पृष्ठभूमि का अभाव बहुत खटकता है।

चतुर्वेदीजी की भाषा और शैली

चतुर्वेदीजी की भाषा खड़ीबोली है। उसमें संस्कृत के क्लिष्ट तत्सम शब्द भी हैं और सरल भी। साथ ही उर्दू शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक किया है। ग़रूर, क़ीमत आदि उर्दू के शब्द उनकी रचनाओं में अधिक मिलते हैं। हृदय के स्थान पर 'हीं' का प्रयोग भी उन्होंने किया है। इस प्रकार उनकी भाषा शुद्ध खड़ीबोली नहीं है, पर उसमें प्रवाह और ओज है। ओज ही उनकी भाषा का प्रधान गुण है। उनके गद्य और पद्य की भाषा में कुछ सादृश्य है। गद्य के आवेग और काव्य के भावोद्वेग के कारण उनकी कविता की भाषा गद्य-काव्य की भाषा हो गयी है। उनकी भाषा में साहित्यिक छटा का अभाव है, पर उसमें स्वाभाविक वार्तालाप की-सी मार्मिकता अवश्य है। उर्दू, हिन्दी, संस्कृत के जो सहज सुलभ शब्द बातचीत में स्वयं आ जाते हैं उन्हीं के भाव-प्रवण प्रयोग से वे हृदय की गहराई में उतरते हैं।

चतुर्वेदीजी की शैली ओजपूर्ण है। उनकी शैली पर वक्तृत्व शैली की छाप है। उनकी छोटी-छोटी षटपदियों में बड़ा ओज रहता है। वह शब्द-शिल्पी की अपेक्षा भाव-शिल्पी अधिक हैं। कभी-कभी वह बहुत चलते शब्दों का प्रयोग भी कर देते हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग से काव्य-सौंदर्य के विकास में बाधा भी पड़ गयी है। उनकी कविताओं में न तो कल्पनाओं और भावनाओं की विपुल सृष्टि है और न शब्दों की बहुवर्णी चित्रसारी। उनमें केवल जी की कसक है। वह मुख्यतः कवि हैं, गौणतः कलाकार। इसलिए भाषा की सजावट पर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया। इन्हीं कारणों से कहीं-कहीं व्याकरण-दोष भी आ गये हैं। अलंकारों का सन्निवेश उनकी रचनाओं

में स्वाभाविक रूप से हुआ। उनकी उपमाएँ नवीन और अच्छी होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्वेदीजी हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि कवि और राष्ट्रीय वक्ता हैं। मैथिलीशरण की भाँति वह भी राष्ट्रीय कवि हैं। अन्तर केवल इतना है कि गुप्त जी पर द्विवेदी-युग की प्रणाली का गहरा प्रभाव है और चतुर्वेदीजी की शैली में अपनापन है। वह नवीन धारा के प्रथम कवि हैं। वह केवल राष्ट्रीय कवि नहीं, प्रेममय जीवन के भी कवि हैं। गृह एवं बन्दीगृह सर्वत्र वह हृदय के आराध्य की ही झाँकी उतारते हैं। उनका जो आराध्य व्यक्तिगत जीवन में उन्हें त्याग, उत्सर्ग और कष्ट-सहन की शक्ति प्रदान करता है, वही राष्ट्रीय क्षेत्र में भी। दैनिक जीवन में यदि वह हृदय के दुःख-सुख के साथ खेलते हैं तो राष्ट्रीय-जीवन में कोटि-कोटि मनुजों के हर्ष-विषाद के साथ। उनके आराध्य को हम कृष्ण के रूप में देख सकते हैं। वह कृष्ण के जीवन को आदर्श देवत्व का जीवन नहीं, अपितु आदर्श मनुष्यत्व का जीवन मानते हैं।

कवि के साथ ही चतुर्वेदीजी एक कुशल पत्रकार और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी हैं। उनके वार्तालाप और भाषण दोनों में मनोहर गद्य-काव्य का-सा रस रहता है। पत्रकार-कला में उनकी अपनी स्वतंत्र विशेषता है। कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने कुछ छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं। 'साहित्य-देवता' उनके गद्य-काव्य का उज्ज्वल उदाहरण है। रंगमंच के उपयुक्त उन्होंने कृष्णार्जुन-युद्ध नाम का एक नाटक भी लिखा है। अतः उनका साहित्यिक जीवन प्रत्येक दृष्टि से सफल है।

—२२—

जयशंकर प्रसाद

जन्म सं० १६४६ मृत्यु सं० १६६४

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कान्य-कुब्ज वैश्य-परिवार में माघ शुक्ल दशमी सम्वत् १६४६ को हुआ था।

जीवन-परिचय

उनके पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु और पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था। श्री शिवरत्न साहु बड़े दानी और दयावान थे। प्रातःकाल गंगा-स्नान से लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक भिक्षुकों को दे डालते थे। काशी में वह 'सुँघनी साहु' के नाम से विख्यात थे। इसी से प्रसादजी को भी लोग सुँघनी साहु ही कहते थे। प्रसादजी का बचपन बड़े सुख से बीता। सम्वत् १६७५ में अपनी माता के साथ उन्होंने धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें आजीवन प्रभावित करती रही। इतनी लम्बी यात्रा उन्होंने अपने जीवन में फिर कभी नहीं की। इस यात्रा के पश्चात् उनके पिता का देहान्त हो गया और चार वर्ष उपरान्त उनकी माता भी स्वर्गवासिनी हो गयीं। ऐसी दशा में उनके जीवन की परिस्थितियाँ ही बदल गईं।

प्रसादजी दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री शम्भूरत्न था। पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबू शम्भूरत्न को ही गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन करना पड़ा। प्रसादजी उस समय काशी के क्वीन्स कालेज में सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। अतः उन्हें परिस्थितियों से विवश होकर स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उनके बड़े भाई ने घर पर ही उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध किया। पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी प्रसादजी

को वेद और उपनिषद् पढ़ाते थे। अँगरेज़ी की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध था। इस प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ प्रसादजी हिन्दी-साहित्य का भी अध्ययन करते जा रहे थे। इस समय उनके तीन काम थे—कसरत करना, अध्ययन करना और दूकान की देख-रेख रखना। दूकानदारी से उन्हें विशेष प्रेम नहीं था, पर बड़े भाई के कहने से वहाँ बैठा करते थे। वहाँ बैठे-बैठे वह बहीखाते के पृष्ठों पर कविता लिखा करते थे। एक दिन जब इस बात की सूचना उनके बड़े भाई को मिली तब उन्होंने प्रसादजी को इस कार्य के लिए बहुत डाँट-फटकार बताई और दूकान की ओर अधिक ध्यान देने पर जोर दिया; पर प्रसादजी अपना ध्येय नहीं भूले। काव्य-प्रेमी को दूकानदारी से क्या नाता! भाई के कहने से उन्होंने दूकान पर कविता करना बन्द कर दिया, पर अवकाश मिलने पर वह गुप्त रूप से कविता करते रहे। कुछ दिनों बाद जब आने-जानेवाले कवियों द्वारा प्रसादजी की समस्यापूर्ति की प्रशंसा होने लगी तब शम्भूरत्नजी ने उन्हें कविता करने की पूरी स्वतंत्रता दे दी और थोड़े दिनों बाद इस असार संसार से विदा हो गये।

भाई का मरना प्रसादजी को अखर गया। माता और पिता की मृत्यु से उन्हें इतना दुःख नहीं हुआ जितना कि भाई की मृत्यु से। इस असामयिक दुर्घटना से उनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। सत्रह वर्ष के युवक प्रसादजी संसार में निस्सहाय हो गये। परिवार के सभी लोग चल बसे थे, केवल भौजाई बच गई थीं। ऐसी दयनीय परिस्थिति में उनकी पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार जमाने के लिए उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का षड्यंत्र चलने लगा। इससे उन्हें और भी चिन्ता हो गई, पर इन समस्त कठिनाइयों का उन्होंने साहस से सामना किया और अपने साहित्यिक जीवन का स्वरूप नहीं बदला। उनका अधिकांश समय साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था।

प्रसादजी का पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय नहीं था।

जीवन की अत्यधिक कठोर परिस्थितियों तथा ऋण के कारण वह अधिक चिन्तित रहा करते थे। स्वभाव में अमीरी थी और दानशीलता उन्हें पैतृक सम्पत्ति में मिली थी, अतः उन्हें आर्थिक चिन्ताएँ सदैव घेरे रहती थीं। अधिक व्यय के कारण वह अपनी परिस्थिति सुधारने में असमथ होते जाते थे। ऐसी दशा में उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग बेचकर ऋण-मुक्त होना पड़ा। इस प्रकार से ऋण-भार मुक्त होने पर उन्होंने साहित्य-सेवा की ओर ध्यान दिया। अपने व्यवसाय की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था।

प्रसादजी के समय में हिन्दी का पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था में था। अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में एकमात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था। सरस्वती-सम्पादक पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी से प्रसादजी का मतभेद था, इसलिए प्रसादजी को उक्त पत्र द्वारा प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना नहीं थी। ऐसी दशा में उनके आदेशानुसार उनके भांजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी मासिक पत्र से प्रसादजी के साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। यह सन् १९१० ई० की बात है। प्रसादजी इस पत्र को आर्थिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सहायता देते थे। कालान्तर में इस पत्र ने हिन्दी की अच्छी सेवा की और प्रसादजी की रचनाओं से हिन्दी-संसार भलीभाँति परिचित हो गया। इस प्रकार जीवन की विरोधी परिस्थितियों के बीच प्रसादजी ने साहित्य के पुनीत प्रांगण में प्रवेश किया।

प्रसादजी सरल, उदार, मृदुभाषी, स्पष्टवक्ता और साहसी व्यक्ति थे। व्यायाम करने का उन्हें बचपन से ही अभ्यास था। अपनी जवानी में वह एक हज़ार बैठकी और पाँच सौ डण्ड प्रतिदिन करते-थे। कुश्ती भी वह लड़ते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त पाव

आध सेर बादाम वह नित्य खाते थे। भोजन बनाने में भी वह कुशल थे। पुष्पों से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने घर के सामने उन्होंने एक छोटी-सी वाटिका भी बनाई थी, जिसमें कई प्रकार के फूल फूलते थे। नौका-विहार में उन्हें विशेष आनन्द आता था। उनका वास्तविक जीवन अत्यन्त सात्विक और स्पष्ट था। पान वह बहुत खाते थे। पत्र-व्यवहार से वह बहुत हिचकते थे। दानशीलता उनमें बहुत थी। उन्होंने अपनी कहानी अथवा कविता के लिए पुरस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से ५००) का और नागरी-प्रचारिणी-सभा से २००) का जो पुरस्कार उन्हें मिला था उसे उन्होंने नागरी-प्रचारिणी-सभा को दान कर दिया। कवि-सम्मेलन में जाकर कविता-पाठ करना अथवा सभापति होना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्हें अपने काम से काम था। उनकी मनोवृत्ति धार्मिक थी। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। प्रतिदिन के काम से जब उनका जी ऊब जाता था तब वह कभी-कभी सिनेमा देखने चले जाते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। प्रतिदित नियमित रूप से संस्कृत के पौराणिक तथा ऐतिहासिक पुस्तकों के अध्ययन में वह अपना समय देते थे। जीवन को इतना नपा-तुला और संयमशील रखने पर भी वह मृत्यु की भयानक चोट से न बच सके। २८ जनवरी सन् १९३७ को वह बीमार पड़े और २२ फरवरी को डाक्टरों ने यह कह दिया कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है।

राजयक्ष्मा के परिणाम से प्रसादजी भली-भाँति परिचित थे। उनकी पूर्व पत्नी इसी रोग का शिकार हो चुकी थीं। इसलिए इस रोग की सूचना पाकर वह अपने जीवन से उदासीन हो गये और अन्ततः कार्तिक शुक्ल एकादशी सम्वत् १९९४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के निष्णात पंडित और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अपने अल्पकालीन साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और वह उनकी स्थायी

सम्पत्ति है। क्रमिक विकास के अनुसार हम उनके साहित्यिक जीवन को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. पूर्व काल [सन् १९१०-२२] २. मध्य काल [सन् १९२३-१९२९] और ३. अन्तिम काल [सन् १९२९-३७]

प्रसादजी की रचनाएँ

प्रसादजी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वकाल में विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार; मध्य काल में स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट और अन्त में आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अधूरा उपन्यास इरावती की रचना की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रसादजी की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है :—

१. **उपन्यास**—कंकाल, तितली और इरावती।

२. **नाटक**—विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, एक घूँट, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, ध्रुवस्वामिनी।

३. **कहानी-संग्रह**—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल।

४. **काव्य**—प्रेम-पथिक, चित्राधार, आँसू, कानन-कुसुम, लहर, करुणालय, महाराणा का महत्व, झरना और कामायनी।

५. **निबन्ध**—काव्य और कला।

प्रसादजी प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। बचपन में उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण से कविता करने की प्रेरणा मिली थी। वह अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्यापूर्ति करनेवाले

कवियों की कविताओं का आनन्द लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात काल में जो कविताएँ कीं, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। उनके काव्य-ग्रन्थों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

प्रसादजी की काव्य-साधना

१. काव्य-विषय में नवीनता—प्रसादजी का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह वह समय था, जब उसमें एक ओर रीतिकालीन परम्पराओं का पृष्ट-पेषण हो रहा था और दूसरी ओर भारतेन्दु के प्रभाव के कारण प्रतिक्रिया के रूप में कुछ ऐसे आदर्शों की स्थापना का प्रयास हो रहा था जो काव्य की आत्मा को ऊँचा उठानेवाले नहीं थे; अतः हिन्दी-कविता इस द्वन्द्व में पड़ी छटपटा रही थी। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसे समय में प्रसादजी ने जन्म लेकर उसे नवीन विषयों से अलंकृत किया। उन्होंने उसकी मूर्च्छना दूर की, उसके बन्धनों को काट दिया और उसे नवजागरण का सन्देश देकर उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया।

२. भाव-जगत् का संस्कार—हिन्दी-काव्य-साहित्य में नवीन विषयों के सन्निवेश के साथ ही प्रसादजी ने उसे सस्ती और विकृत भावुकता के भँवर से निकालकर एक दृढ़, स्वस्थ और सन्तुलित मानसिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया। उनके समय में कवियों के दो वर्ग थे—एक वर्ग शृंगार के नाम पर नारी-शरीर का अत्यन्त स्थूल और उत्तेजक वर्णन कर रहा था और दूसरा उसका बहिष्कार। काव्य-साहित्य के लिए इस प्रकार की दोनों धारणाएँ अहितकर थीं। इसलिए प्रसादजी ने एक सच्चे कलाविद् के रूप में पहली बार विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह किया और उसके स्वास्थ्यकर और व्यापक रूप का परिचय

दिया। वह प्रारंभ से ही मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यिक पृष्ठभूमि की रचना में संलग्न हुए। इसके लिए उन्होंने प्रकृति को अपना उपादान बनाया और उसी में सनातन पुरुष की विराट् प्रकृति-नारी का सौंदर्य देखा।

३. नवीन कल्पनाओं की सृष्टि— भाव के अतिरिक्त कल्पना और सौंदर्य का भी काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए प्रसादजी ने अपने काव्य में कल्पना तथा सौंदर्य का भी विधान बड़े कलात्मक ढंग से किया। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं तथा उनके बाहुल्य के कारण काव्य का संतुलन विकृत हो गया है, पर इस दोष के कारण उनका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के काव्य में कल्पना लांछित थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय नवीन कल्पनाओं की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। प्रसादजी ने नई कल्पनाओं से सर्वप्रथम कविता-कामिनी का शृंगार किया।

४. मानवीय सौंदर्य का चित्रण—प्रसादजी का अधिकांश काव्य मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। वह प्रथमतः अशरीरी और अमूर्त्त भावों तथा विचारों के कवि हैं। शुद्ध मानव-सौंदर्य के चित्रण का प्रयत्न कामायनी में हुआ है। चिंतित मनु का वर्णन देखिए:—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान

इस प्रलय से स्पष्ट है कि प्रसादजी मानव-सौंदर्य के चित्रण में बड़े कुशल थे। उनकी दृष्टि वाह्य सौंदर्य के सरलतम तत्त्वों पर ही पड़ती थी। नारी-सौंदर्य के चित्रण की जो परम्परा विद्यापति और सूरदास के काव्य में होती हुई देव और पद्माकर तक पहुँची थी, उसके वह विरोधी थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को नारी के नग्न सौंदर्य के चित्रण में सर्वथा अछूता रखा।

५. प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण—मानवीय सौंदर्य के चित्रण के

साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण भी प्रसादजी के काव्य की एक विशेषता है। वस्तुतः प्राकृतिक सौंदर्य ने ही उनकी काव्य-कला को वाणी दी है और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया है। उनकी समस्त रचनाएँ प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य में हमें प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं, रहस्यात्मक इसलिए कि उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम को दर्शन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा है।

६. भाव-सौंदर्य की स्थापना—प्रसादजी यौवन और प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही मार्मिक, सजीव और हृदयग्राही चित्र उतारे हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी और कुछ प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी। इन कविताओं में भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं है जितनी विषय-विन्यास की नवीनता है। प्रसादजी का भाव-सौंदर्य देखने के लिए हमें आँसू, झरना, लहर, कामायनी तथा नाटकीय गीतों का अध्ययन करना चाहिए। इन काव्य-ग्रन्थों में भावों का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसादजी हर्ष-विषाद-युक्त मानवीय मनोभावों के कवि हैं। वह मानवीय मनोभावों से इतने प्रभावित हैं कि मानव ही उनके चिन्तन की इकाई बन गया है। हमें उनकी रचनाओं में सौंदर्य और प्रेम के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का प्राकृतिक सौंदर्य के साथ इस प्रकार गँठबन्धन हो गया है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण प्रतीत होता है। उनके सौंदर्य और प्रेम में ऐहिक भावना के साथ-साथ मानवीय मनोवृत्तियों को उन्नत रूप देनेवाली उदात्त भावनाएँ भी हैं। उनकी ऐसी ही उदात्त भावनाओं में हमें उनके रहस्यवाद का परिचय मिलता है।

७. रहस्यवाद और छायावाद—प्रसादजी वर्तमान युग के प्रथम छायावादी कवि थे। उन्होंने हिन्दी-काव्य-जगत् में छायावाद की मधुर

रागिनी उस समय छेड़ी थी जिस समय बँगला-साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की धूम थी। वह उनकी गीताञ्जलि से बहुत प्रभावित थे। हम पहले कह चुके हैं कि उनके कवि-रूप को सार्थक बनाने में प्रकृति का बड़ा हाथ था। वस्तुतः प्रकृति ही उनके मस्तिष्क और हृदय को उनके विचारों और भावों को एकसूत्र में बाँधकर अभिनव रूप देने में समर्थ हुई थी। प्रकृति सुन्दरी के इस प्रकार के आकर्षण के साथ-साथ उन पर अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। ऐसी दशा में उनका छायावादी हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः हम देखते हैं कि प्रसादजी को छायावादी कवि बनाने में चार बातें मुख्य थीं—१. प्रकृति-प्रेम, २. अज्ञात के प्रति उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, ३. दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन और ४. गीताञ्जलि का प्रभाव। इन्हीं प्रभावों के कारण उन्होंने प्रकृति में मनुष्य का—मानव जीवन का—प्रतिबिम्ब देखा और उसे कवि की हैसियत से चित्रित किया। वह अपनी रचनाओं में कहीं छायावादी और कहीं रहस्यवादी के रूप में आते हैं। उनके छायावाद का उदाहरण लीजिए :—

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
गूँज उठी तेरी पुकार कुछ मुझको भी दे देना,
कन कन विभवदान करके तू अपना यश ले लेना।

रहस्यवाद का उदाहरण लीजिए :—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ॥
हे विराट! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान॥

८. प्रेम-साधना—प्रसादजी प्रेम और वासना की मीमांसा करनेवाले हिन्दी के प्रथम कवि हैं। प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है। उनका प्रेम-निरूपण न तो एकदम अलौकिक है

और न एकदम लौकिक। लौकिक और अलौकिक के बीच उनके प्रेम का विकास हुआ है। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का संकेत पाता है। प्रेम-निरूपण की यह धारणा सर्वथा नवीन है। भक्ति-काल के कवियों ने प्रेम को इतना ईश्वरोन्मुख बना दिया था कि उसमें लौकिक पक्ष का अभाव हो गया था। इसके विरुद्ध रीतिकाल में कवियों ने प्रेम के लौकिक पक्ष को ही प्रधानता दी थी। प्रसादजी ने इन दोनों मार्गों के बीच अपना मार्ग बनाया। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय संस्कृति और युगानुकूल भावना का भी ध्यान रखा।

प्रसादजी की भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से प्रसादजी का साहित्य अपनी कई विशेषताओं के साथ हमारे सामने आता है। हम यह बता चुके हैं कि वह उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवयुग का साहित्य निर्माण करने में भाषा का बहुत ध्यान रखा। उनकी भाषा हमें दो रूपों में मिलती है—१. व्यावहारिक भाषा और २. संस्कृत-प्रधान भाषा। आरम्भ में उनकी रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी, पर ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, विचारों और भावों में परिपक्वता आती गयी त्यों-त्यों उनकी भाषा भी गंभीर होती गयी। इसीलिए उनकी प्रारंभिक रचनाओं में हमें व्यावहारिक भाषा मिलती है। गद्य में उनकी भाषा खड़ीबोली है, पर पद्य में उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों का प्रयोग किया है। इस कारण उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रवाह में बाधा भी पड़ी है। इसके बाद हमें उनकी संस्कृत-प्रधान भाषा मिलती है। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गंभीर विषयों के विवेचन में ही उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त होने के कारण क्लिष्ट अवश्य हो गयी है, पर उसकी स्वाभाविकता और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं है। संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से

संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारों का अनुगमन करती है। उनका शब्द-चयन अद्वितीय है उनकी रचनाओं में एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ ज्ञात होता है। उनके वाक्य उनकी विचार-धारा के साथ-साथ चलते हैं और विचारों की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। उनकी रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की भाँति प्रतीत होते हैं। मुहावरों का उनकी रचनाओं में अभाव है, पर वह खटकता नहीं। कुछ मुहावरे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं जिससे उनका सौंदर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है। कहावतें तो मिलती ही नहीं।

प्रसादजी की भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते। उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है। वह विचारक, समालोचक और तत्वदर्शी हैं। इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गंभीर विषयों में पहुँच है। पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों के साथ खेल किया है। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वह लिखते गये हैं त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, सौंदर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है।

भाषा की भाँति प्रसादजी की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। उनकी शैली पर उनके विषय, उनकी, स्वाभाविक रुचि, उनके गंभीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है। इसलिए उसमें इतना अपनापन है, इतना 'प्रसादत्व' है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता। वह अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए से जान पड़ते हैं।

छोटे-छोटे वाक्यों में गंभीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। वह अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सहृदय भी। प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह जैसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है। यह चमत्कार वह अपनी रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वह अपने पाठकों के दुःख सुख को, उनकी आशा-निराशा को, उनके उत्थान-पतन को, उनके अनुराग-विराग को समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वह भावावेश में आते हैं तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठकों को अपने में निमग्न कर लेती हैं। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दों द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता प्रदर्शित करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब जगह हमें उनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में सर्वत्र समर्थ होती है।

पद्य-साहित्य में प्रसादजी की शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग स उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नये ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्व रखता है। वह अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत-साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके व्यक्तित्व की इतनी स्पष्ट छाप है कि उसका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में

कहना चाहें तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि उनकीशैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमय, प्रभावशाली, चुटीली और सम्वेदनशील होती है। चित्रोपमता उनकी शैली का विशेष गुण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी अपने प्रमुख रूप में कवि हैं। उनके एक इसी रूप में उनके कई रूपों का समाहार और अवसान हुआ है। वह एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। उनकी समस्त रचनाएँ एक आदर्श, एक उद्देश्य से बँधी हुई हैं। उसमें एक ही स्वर है और वह है करुणा, दया, सहानुभूति और विश्व-प्रेम का स्वर। वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को उनका यही संदेश है। दर्शन की भाव-भूमि पर उन्होंने अपने इस सन्देश को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह अपने में महान् है। लाख चेष्टा करने पर भी उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हिन्दी के वह अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना की उड़ान में, अपने भावों तथा विचारों के समन्वय में, अपने प्रकृति-चित्रण में, अपने भावों को गीतात्मक रूप देने में वह नवयुग के साहित्य में अग्रगण्य हैं। उनके गीतों में जो सरसता है, जो प्रवाह, जो संगीत और मानव-जीवन का जो सत्य है उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे विश्व-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

–२३–

रामनरेश त्रिपाठी

जन्म सं० १९४६

पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सं० १९४६ में जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० रामदत्त त्रिपाठी था। वह बड़े भगवद्भक्त तथा गीता और रामायण के

अनन्य प्रेमी थे। अपने पिता से ही त्रिपाठीजी को रामायण का प्रेम प्राप्त हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय ग्रामीण पाठशाला में हुई। वहाँ से अपर प्रायमरी की परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने जौनपुर के एक अंगरेज़ी स्कूल में अपना नाम लिखाया। उनके पिता अंगरेज़ी शिक्षा के विरुद्ध थे, इसलिए उन्होंने विवश होकर नवीं कक्षा से पढ़ना छोड़ दिया और घरवालों को बिना बताए ही कलकत्ता भाग गये। वहाँ अपने गाँव के एक सज्जन के यहाँ रहकर वह कुछ समय तक पढ़ते-लिखते रहे।

जीवन-परिचय

कलकत्ता का जलवायु त्रिपाठीजी के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं था। अतः वह बीमार रहने लगे। थोड़े दिनों में उन्हें संग्रहणी का रोग हो गया। उनका रोग असाध्य होते हुए देखकर उनके एक मारवाड़ी मित्र ने उन्हें मारवाड़ जाने की सलाह दी। अतः कलकत्ता से वह मारवाड़ चले गये। मारवाड़ जाकर वह शेखावाटी के फतहपुर नामक नगर में ठहरे। वहाँ बाजरे की रोटी तथा मट्ठे के सेवन से वह थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गये। इसके बाद वह घर चले आये, पर यहाँ आने पर उन्हें फिर रोग हो गया। इसलिए वह फिर मारवाड़ चले गये और पाँच वर्ष तक वहीं रहे। इस बीच उन्होंने अपने मारवाड़ी मित्रों की सहायता से एक पुस्तकालय खोला जिसमें हिन्दी, संस्कृत तथा अंगरेज़ी की पुस्तकें थीं। इसी पुस्तकालय द्वारा उनकी अध्ययन-पिपासा शान्त हुई। मारवाड़ में रहकर उन्होंने गुजराती भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। बंगला उन्होंने कलकत्ता में रहते हुए सीख ली थी। संस्कृत, उर्दू तथा फ़ारसी का भी उन्हें व्यावहारिक ज्ञान था।

सन् १९१५ ई० में त्रिपाठीजी के पिता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए वह मारवाड़ से कोइरीपुर चले आये और दो वर्ष पश्चात् सन् १९१७ में प्रयाग पहुँचे। तब से वह प्रयाग में ही रहने लगे। प्रयाग में रहते हुए उन्होंने राष्ट्रीय तथा साहित्यिक कार्यों में पूरा योग दिया। वह समय राष्ट्रीय आन्दोलन का था। इसलिए त्रिपाठीजी उस ओर

झुके। देश के सभी नेताओं से उनका परिचय हो गया। तिलक-स्वराज्य-कोष के लिए जौनपुर में उन्होंने लगभग ३०००) एकत्र किया। इससे उनकी ख्याति बढ़ गयी। सन् १९२१ ई० में वह डेढ़ वर्ष के लिए जेल भी गये। इसके पश्चात् वह प्रयाग के साहित्य-भवन में काम करते रहे। वहाँ से हटने पर सन् १९२४ ई० में उन्होंने हिन्दी-मन्दिर की स्थापना की और १९३२ ई० में प्रेस खोला। उनकी ये दोनों संस्थाएँ सुचारु रूप से चलती रहीं। प्रकाशन और बिक्री का यथेष्ट साधन पाकर उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं।

त्रिपाठीजी बड़े व्यवहार-कुशल व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने जीवन का स्वयं निर्माण किया है। वह परिश्रमी, उदार और अध्ययनशील हैं। अपने अध्ययन के बल पर ही उन्होंने अपनी साहित्यिक सेवाओं का प्रासाद खड़ा किया है। कविता करने का उन्हें बचपन से शौक है। अपने गुरु की प्रेरणा से वह चौथी कक्षा से ही सवैया, घनाक्षरी आदि रचने लगे थे। उसी समय उनका पहला लेख अलीगढ़ से निकलनेवाले पत्र, 'शिक्षा-प्रभाकर' में प्रकाशित हुआ था। इससे उन्हें बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ मारवाड़ से हुआ। वहाँ रहकर उन्होंने अनेक कविताएँ तथा पुस्तकें लिखीं। इस समय वह अपने सभी प्रकाशन सस्ता साहित्य मंडल को देकर घर पर हैं।

त्रिपाठीजी की रचनाएँ

त्रिपाठीजी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं। उनकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। उन्होंने हर एक के लिए कुछ-न-कुछ लिखा है। इससे उनकी सभी रचनाएँ हिन्दी संसार में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उनकी कुछ रचनाएँ मौलिक हैं, कुछ अनूदित और कुछ सम्पादित हैं। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं—कविता कौमुदी ७ भाग, पथिक, मिलन, स्वप्न, मानसी, स्वप्न-चित्र, हिन्दुस्तानी कोष, जयंत, प्रेमलोक, तरकस, रामचरित मानस की टीका, तुलसीदास और उनकी कविता २ भाग, मारवाड़ के मनोहर गीत, सुदामाचरित, पार्वती

मंगल, घाघ और भड्डरी, चिन्तामणि, हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास, सुकवि कौमुदी, कौन जानता है, शिवाबावनी, सोहर, भूषण-ग्रन्थावली, बाल-कथा कहानी १७ भाग, गुपचुप कहानी २ भाग, मोहनमाला, बताओ तो जानें, वानर संगीत, हंसू की हिम्मत, नेता बुझौवल, बुद्धि विनोद, फेखन, मोतीचूर के लड्डू, अशोक, चन्द्रगुप्त, महात्मा बुद्ध, आल्हा, हिन्दी-पत्र-शिक्षक तथा कई रीडरें आदि।

त्रिपाठीजी की इन रचनाओं को देखने से पता चलता है कि वह हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार हैं। उनकी रचनाओं का हिन्दी-साहित्य में बहुत मान है। वह कवि के साथ गद्यकार भी हैं। खड़ीबोली के कवियों में उनका एक विशिष्ठ स्थान है। उनकी कविताएँ दो प्रकार की हैं—१ इतिवृत्तात्मक और २. मुक्तक। उनकी इतिवृत्तात्मक कविताओं में पथिक, मिलन और स्वप्न की गणना की जाती है। काव्य-कला की दृष्टि से ये उच्चकोटि के खण्ड-काव्य हैं। इन खण्ड-काव्यों में उन्होंने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथाओं पर अपने कथानकों का निर्माण न करके स्वच्छन्द कल्पना-जन्य काव्य-वस्तु का उत्पादन किया है और इसमें इन्हें पूरी सफलता मिली है। देश-भक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण उनकी ऐसी रचनाओं का अत्यधिक महत्त्व है। उनकी रचनाओं में सामयिक भावना का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। देश-काल की प्रवृत्तियों और आदर्शों के अनुसार कविता को लोकोपयोगी बनाना उनका ध्येय रहा है। इससे उनके कवित्व की परिधि सीमित हो गयी है। इसलिए उनके खण्ड-काव्यों में एक ही कथा और एक ही राष्ट्रीय आदर्श का, भिन्न-भिन्न शब्दों में, थोड़े परिवर्तन के साथ चित्रण हुआ है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उनके काव्य को विविध जीवन का वह विशाल प्राङ्गण नहीं प्राप्त हो सका जिसे बहुव्याप्त आर्य-जीवन द्वारा प्राप्त कर गुप्तजी की प्रतिभा विकसित और पुष्पित हुई है। पर इस त्रुटि के

त्रिपाठीजी की काव्य-साधना

होते हुए भी खण्ड-काव्यों के महत्त्व की दृष्टि से गुप्तजी के पश्चात् उन्हीं का स्थान है।

त्रिपाठीजी की मुक्तक रचनाएँ 'मानसी' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं में नवीनता का स्वागत और प्राचीनता का समावेश है। उन्होंने प्राचीन-पद्धति पर सूक्ति और नीति के पद भी लिखे हैं और सामयिक हास्य-कविताएँ भी। पर ऐसी समस्त कविताओं में उनकी दृष्टि भावोद्भावना की अपेक्षा विचारोद्भावना की ओर अधिक है। उनमें पर-दुःख-कातरता और सेवा का भाव इतना प्रबल है कि उनका सम्पूर्ण कवित्व इसी एक आदर्श की पूर्ति करता हुआ आगे बढ़ता है। परमात्मा की आराधना में भी उन्होंने इसी आदर्श की झाँकी उतारी है, सौंदर्य की उपासना में भी उन्होंने इसी आदर्श को प्रतिष्ठा दी है।

हम बता चुके हैं कि त्रिपाठीजी गद्यकार भी हैं। इस दिशा में उन्हें हम आलोचक, नाट्यकार, निबन्धकार तथा बाल-साहित्यकार के रूप में पाते हैं। हिन्दी में वह बाल-साहित्य के जन्मदाता हैं। उनके बाल-साहित्य में बालकों को अपनी रुचि के अनुसार बहुत कुछ मिल जाता है। तुलसी की आलोचना करके उन्होंने अपनी आलोचनात्मक शक्ति का भी अच्छा परिचय दिया है। नाटक भी उन्होंने लिखे हैं, और वह अभिनयशील भी हैं, पर साहित्य की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है। इस प्रकार गद्य के क्षेत्र में उन्होंने जो रचनात्मक कार्य किया है वह भी उनकी साहित्यिक चिन्तनशीलता का उच्चतम द्योतक है।

त्रिपाठीजी की भाषा खड़ीबोली है। उस पर उनका अच्छा अधिकार है। उनकी भाषा साफ़-सुथरी और परिमार्जित होती है।

त्रिपाठीजी की भाषा और शैली

संस्कृत की तत्सम पदावली का आधिक्य होने पर भी उसमें दुरूहता नहीं आने पाई है। उसमें प्रसाद गुण अधिक है। माधुर्य गुण भी है, पर काव्य में उपदेशात्मक प्रकृति का समावेश होने के कारण यह फीका पड़ गया है।

त्रिपाठीजी अपनी भाषा में व्याकरण के नियमों का बहुत ध्यान रखते हैं। उनकी वाक्य-रचना व्याकरण-सम्मत होती है। काव्य-क्षेत्र में जहाँ अधिकतर कवि स्वच्छन्दता के पक्षपाती होते हैं वहाँ भी वह व्याकरण की क्षुद्रातिक्षुद्र त्रुटि को भी सहन नहीं कर सकते। इस प्रकार शब्दों के सुन्दर प्रयोग तथा व्याकरण के औचित्य से उनकी भाषा सरस, सुबोध और बोध-गम्य हो गयी है।

त्रिपाठीजी की शैली में प्रवाह और गतिशीलता है। उनका शब्द-चयन तथा वाक्य-विन्यास व्याकरण-सम्मत होता है। काव्य में उनकी अलंकृत शैली देखने को मिलती है और गद्य में उनकी आलोचनात्मक। बाल-साहित्य की सृष्टि में उनकी शैली सरलतम है। इस प्रकार उनकी शैली के विविध रूप हम उनके साहित्य में देख सकते हैं।

—२४—

गोपालशरण सिंह

जन्म सं० १९४८

ठाकुर गोपालशरण सिंह का जन्म पौष-शुक्ल प्रतिपदा सं० १९४८ को रीवाँ राज्यान्तर्गत नईगढ़ी में हुआ था। उनके पिता का नाम लाल जगतबहादुर सिंह था। वह सेंगर-वंश-भूषण, दयालु, धर्मनिष्ठ तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने एक पाठशाला खोली थी जिसमें संस्कृत पढ़ाई जाती थी और निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र भी मिलता था। ऐसे पिता की देख-रेख में गोपालशरण सिंह की शिक्षा प्रारंभ हुई। हिन्दी की साधारण योग्यता हो जाने पर

उन्हें संस्कृत का अभ्यास कराया गया। १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अंगरेजी पढ़ना आरम्भ किया। इसी वर्ष उनके पिता का देहान्त हो गया, पर वह बराबर पढ़ते रहे। १५ वर्ष की अवस्था में वह रीवाँ के दरबार हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए और सन् १९१० में मैटरीकुलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात् वह प्रयाग आए और म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगे। कुछ समय तक यहाँ पढ़ने के पश्चात् कई कारणों से उन्हें कालेज की पढ़ाई से हाथ खींच लेना पड़ा। ऐसी दशा में उन्होंने घर पर ही कई विषयों की योग्यता प्राप्त की।

ठाकुर साहब बाल्यावस्था से ही कविता-प्रेमी हैं। जब उनकी अवस्था १०-११ वर्ष की थी तब वह प्रायः हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाएँ बड़े चाव से पढ़ा करते थे। संस्कृत में भी उनकी अभिरुचि काव्य की ही ओर विशेष रूप से थी। इसलिए ज्यों-ज्यों उनके विचारों में प्रौढ़ता आती गयी त्यों-त्यों उनकी काव्य-रुचि बढ़ती गयी। फलतः कालेज छोड़ने के पश्चात् वह काव्य-रचना की ओर आकृष्ट हुए। इस प्रकार उनके रचना-काल का आरंभ सन् १९११ से हुआ। पहले उन्होंने ब्रजभाषा में कविता करना आरम्भ किया, पर जब खड़ीबोली से उनका सम्पर्क हुआ तब वह बोलचाल की भाषा में कविता करने लगे। इस दिशा में उन्हें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से बहुत प्रोत्साहन मिला। उनके सहयोग से 'सरस्वती' में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। सन् १९१६ ई० के बाद जब इलाके का प्रबन्ध उनके हाथ में आ गया तब ५-६ वर्ष तक उन्हें 'सरस्वती' की सेवा से विश्राम लेना पड़ा, पर प्रबन्ध के कार्य में सुगमता होते ही उन्होंने फिर कविता करना आरंभ किया। इस प्रकार सन् १९२३ से अब तक वह बराबर कविता कर रहे हैं।

ठाकुर साहब रीवाँ राज्य के एक सम्मानित व्यक्ति हैं। वह राज्यान्तर्गत प्रथम श्रेणी के सुप्रतिष्ठित ताजीमी इलाकेदार हैं और चमर-छड़ी आदि राज-चिह्नों से विभूषित हैं। नईगढ़ी का इलाका

उन्हीं के प्रबन्ध में है। इस प्रकार सरस्वती और लक्ष्मी दोनों उन पर प्रसन्न हैं और दोनों का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त है। उनका पारिवारिक जीवन भी अत्यन्त सुखी है। उनके चार सहोदर भाई, सात पुत्र और तीन कन्याएँ हैं। इतने बड़े परिवार और इलाके का भार उठाने पर भी वह साहित्य-सेवा के लिए अवकाश निकाल लेते हैं। वह बराबर कुछ-न-कुछ लिखते ही रहते हैं। अपनी साहित्यिक सेवाओं के कारण वह कई साहित्यिक समारोहों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुके हैं। वह बड़े सरस, सहृदय और उदार व्यक्ति हैं। और सब से जी खोलकर मिलते हैं। उनके व्यवहार में कृत्रिमता नहीं है। हिन्दी की सेवा करना वह अपना कर्तव्य समझते हैं और उसकी सेवा में ही अपने जीवन का पूर्ण उत्कर्ष मानते हैं।

ठाकुर साहब की रचनाएँ हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। हम बता चुके हैं कि उनका रचना-काल सन् १६११ है। उस समय से अब तक उन्होंने कई कविता-पुस्तकें हिन्दी को भेंट में दी हैं। इन समस्त पुस्तकों में उनकी मुक्तक रचनाएँ संगृहीत हैं। उन्होंने प्रायः स्फुट कविताएँ ही लिखी हैं। वह मुख्यतः कवि हैं और इसी रूप में वह हिन्दी में सम्मानित हैं। गद्य वह बहुत कम लिखते हैं। अब तक की उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—१. माधवी, २. कादंबिनी, ३. ज्योतिष्मती, ४. संचिता, ५. सुमना, ६. मानवी, ७. सागरिका, ८. विश्वगीत। इन रचनाओं के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आधुनिक कवि भाग ४ में भी उनकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह है। इसमें दी हुई प्रायः वही रचनाएँ हैं जो उनकी अन्य काव्य-पुस्तकों में मिलती हैं। आधुनिक कवि भाग ४ की विशेषता केवल इसलिए है कि उन्होंने अपनी उत्कृष्ट कविताओं के संकलन के साथ ही अपने संबंध में भी प्रकाश डाला है।

ठाकुर साहब की रचनाएँ

ठाकुर साहब हिन्दी के एक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय कवि हैं।

काव्य-रचना की ओर उनका कोई विशिष्ट दृष्टिकोण नहीं है। उनके हृदय में जब जो भाव जिस प्रकार उत्पन्न हुए हैं तब उसे उसी प्रकार उन्होंने व्यक्त कर दिया है। यही कारण है कि उनकी काव्य-सरिता एक पथ का अनुसरण न करके अनेक मार्गों से प्रवाहित हुई है। अतः यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएँ विशेष चिन्तन अथवा अध्ययन का फल नहीं हैं।

ठाकुर साहब की काव्य-साधना

ठाकुर साहब की काव्य-साधना पर बंगला तथा पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा है, पर किस विचार का कितना प्रभाव उनकी रचनाओं पर पड़ा है, यह कहना कठिन है। अपने पिता के समय में जिस साहित्यिक वातावरण में वह पले थे उसका संस्कार बराबर बना रहा और सम्भवतः उसी ने उन्हें काव्य-रचना की ओर आकृष्ट किया। सब से पहले काव्य से उनका परिचय संस्कृत और ब्रजभाषा द्वारा हुआ। संस्कृत में वह कालिदास से और ब्रजभापा में वह भक्त कवियों से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हीं से उन्हें काव्य-प्रेरणा मिली। इसीलिए पहले उन्होंने ब्रजभाषा में काव्य-रचना प्रारंभ की, पर जब वह द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये और खड़ीबोली से उनका परिचय हुआ तब वह खड़ीबोली में कविता करने लगे।

ठाकुर साहब की प्रारंभिक रचनाएँ विशेषतः 'संचिता' में संगृहीत हैं। उनकी सब से पहली कविता-पुस्तक 'माधवी' है। इसमें एक ओर ब्रजभाषा के काव्य-सौंदय की प्रेरणा है और दूसरी ओर आनेवाले युग की सूचना है। इन रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि वह आरंभ में प्रेम और उल्लास के कवि रहे हैं। इनमें अधिकांश पारिवारिक जीवन के ही चित्र अंकित हुए हैं। उन्होंने भक्ति-भावनापूर्ण रचनाएँ भी लिखा हैं। उनकी ऐसी रचनाओं में उनके हृदय की सारी तन्मयता आ गयी है। कविता लिखने में अध्ययन की अपेक्षा जीवन से उन्हें अधिक प्रेरणा मिली है। इसी से उनकी रचनाओं में जीवन

की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बड़े सुन्दर चित्र मिलते हैं। ग्रामवासी होने के कारण प्रकृति से भी उनका साहचर्य हो गया है। अतः उनकी कितनी ही रचनाएँ प्रकृति-प्रेम की द्योतक हैं, पर उन सब में जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों का सम्मिश्रण बड़ी सफलता-पूर्वक किया गया है। 'मानवी' में उन्होंने सामाजिक समस्याओं की ओर संकेत किया है। इसमें संग्रहीत रचनाओं का सम्बन्ध यद्यपि भारतीय समाज से है, तथापि उनमें अखिल विश्व के नारी-हृदय के भाव-चित्र देखे जा सकते हैं। उनमें स्त्रियों की भिन्न-भिन्न कारुणिक अवस्थाओं का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। इस प्रकार के चित्रण में उनकी प्रकृति आदर्श की अपेक्षा यथार्थ चित्रण की ओर अधिक गयी है। उन्होंने सर्वत्र पवित्र प्रेम पर ही जोर दिया है। भारतीय नारी का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

तू कभी नहीं कुछ कहती है, चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रस धारा बहती है; पर तू प्यासी ही रहती है।

ठाकुर साहब ने आध्यात्मिक रचनाएँ भी लिखी हैं, पर उनकी ऐसी रचनाओं में दार्शनिक विवेचन नहीं हैं, भक्तिमयी जिज्ञासा अवश्य है। वस्तुतः वह गम्भीर चिन्तन के कवि नहीं हैं। उनका अध्यात्मवाद जटिल नहीं, अत्यन्त सरल है। उनके अध्यात्मवाद का निष्कर्ष है :—

है तुम्हारा वास निश्चय विश्व के विश्वास।

उनकी सम्मति में ईश्वर बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय है। इसलिए मनुष्य भावना द्वारा ही परमचेतन के निकट पहुँच सकता है। वह मुक्ति का द्वार भी संसार ही में मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सच्ची अनुभूति जीवन की दुखद घड़ियों में ही होती है। इस प्रकार उनके आध्यात्मिक विचार अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और बोधगम्य है।

ठाकुर साहब की रचनाओं में ग्राम्य जीवन की सुखद झाँकियाँ

भी मिलती हैं। ग्रामवासी होने के कारण जहाँ उन्होंने प्रकृति के मनोहर और सुन्दर चित्र उतारे हैं वहाँ उन्होंने ग्राम्य जीवन को भी चित्रित किया है। उनके ऐसे चित्रों में ग्राम्य जीवन की दुरावस्था का भी अंकन बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। उनकी कई रचनाएँ ग्राम्यजीवन के अत्यन्त दुखद, पर सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती हैं। 'कादंबिनी' में उनकी विश्वानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ संगृहीत हैं। भौतिकवाद के विरुद्ध भी उन्होंने अपनी रचनाओं में संकेत किया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उन्होंने समयानुसार भिन्न-भिन्न भावों को अपनी मधुर कल्पना और अनुभूति से काव्य का रूप दिया है और ऐसे करने में उन्हें पूरी सफलता मिली है।

ठाकुर साहब की भाषा और शैली

ठाकुर साहब की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। उनकी भाषा कोमल मधुर और बड़ी ही चुटीली होती है। खड़ीबोली का जैसा शुद्ध रूप उनकी भाषा में देखने को मिलता है वैसा उनके समवयस्क कवियों की भाषा में पाना दुर्लभ है। वह प्रवाहमयी, भावानुकूल और व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने में सिद्धहस्त हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर और उपयुक्त होता है। शब्दों का विकृत रूप उनकी भाषा में कहीं भी नहीं पाया जाता। वह रस और भाव के अनुकूल ही अपनी भाषा का रूप निश्चित करते हैं। इस प्रकार भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। अन्य भाषाओं के शब्दों से वह अपनी भाषा की पवित्रता नष्ट नहीं करते। प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी उनकी भाषा में मेल नहीं है। उनके शब्द उनके भावों की भाँति ही सरल, स्वाभाविक और कोमल होते हैं।

ठाकुर साहब की शैली में अपनत्व है। वह अपनी शैली के स्वयम् जन्मदाता है। शब्दों के चयन और भाषा को सजाने-सँवारने में वह बेजोड़ हैं। खड़ीबोली में सरल भाषा के वह प्रवर्तक हैं। उनके शब्द उनके विभिन्न छन्दों में नगीने की भाँति जड़े रहते हैं। उनकी

रचनाओं में एक भी शब्द निरर्थक नहीं रहता। शब्दों की व्यर्थ भरती वह पसन्द नहीं करते। वह ऐसे ही शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं जो उनके भाव को वहन कर सकते हैं। उनकी शब्द-योजना शिथिल नहीं होती, उसमें प्रौढ़ता रहती है। उनकी रचना में शब्दों का परिवर्तन करना कठिन है। उनकी छन्द-योजना भी उनकी शब्द-योजना की भाँति अत्यन्त सफल है। उन्होंने आधुनिक और प्राचीन प्रकार के छन्दों का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनके घनाक्षरी छन्द खड़ीबोली में, बेजोड़ होते हैं। घनाक्षरी को परिष्कृत रूप देने में वह नवीन धारा के प्रायः सभी कवियों को पीछे छोड़ देते हैं। उनकी अलंकार-योजना भी स्वाभाविक और सफल है। अलंकारों से उनकी कविता कामिनी बोझिल नहीं है। इस प्रकार हिन्दी के वह एक सफल कवि हैं।

—२५—

सियारामशरण गुप्त

जन्म सं० १९५२

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म भाद्रपद १५ संवत् १९५२ में चिरगाँव—झाँसी—के वैश्य-कुल में हुआ था। उनके पिता सेठ रामनाथ गुप्त अच्छे कवि, संस्कृत के विद्वान और वैष्णव-धर्म के अनुयायी थे। इसलिए आरम्भ में उनके जीवन का सियारामशरण पर विशेष प्रभाव पड़ा। सियारामशरण की प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय पाठशाला में हुई। कुछ दिनों तक इस प्रकार विद्याध्ययन करने के पश्चात् जब उन पर गार्हस्थ्य जीवन का भार आ पड़ा तब उन्होंने स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर दी और घर पर ही सरस्वती की आराधना करने लगे। इस प्रकार

जीवन-परिचय

थोड़े ही समय में उन्होंने हिन्दी-साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनके बड़े भाई मैथिलीशरण गुप्त उस समय तक हिन्दी में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इसलिए उनके संसर्ग से उनकी रुचि भी कविता की ओर अग्रसर हुई। धीरे-धीरे वह कविता करने लगे। उनकी पहली कविता काशी से प्रकाशित होनेवाले 'इन्दु' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित हुई। इससे उन्हें विशेष प्रोत्साहन मिला। बाद को 'सरस्वती' में उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। इस दिशा में उन्हें आचार्य द्विवेदीजी तथा स्वर्गीय गणेशशङ्कर विद्यार्थी से बहुत प्रोत्साहन मिला। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार मुंशी अजमेरीजी से उनके कुटुम्ब का अत्यधिक स्नेह था। मुंशीजी संगीत-कला-प्रेमी तथा मर्मज्ञ साहित्यिक थे। उनका भी सियारामशरण पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वाध्याय के बल पर बंगला, अंगरेजी, संस्कृत, गुजराती तथा मराठी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार स्वाध्याय एवं कवियों तथा साहित्यकारों के 'संजग' से उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया और धीरे-धीरे नवीन धारा के कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

सियारामशरण का स्वभाव अत्यन्त सरल और मधुर है। उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। उनके रहन-सहन में बहुत ही सादगी है। हिन्दी के एक सम्मानित कवि होते हुए भी वह शान्त रहते हैं। वह कवि-सम्मेलनों में भी बहुत कम जाते हैं। वैष्णव-धर्म में उनका अत्यधिक विश्वास है। राम के वह सच्चे उपासक हैं। वह राष्ट्रवादी भी हैं। उनके काव्य का प्रादुर्भाव राष्ट्रीयता के उत्थान काल में ही हुआ था। इसलिए राष्ट्रीयता की ओर वह अपने भाई की भाँति ही झुके और उसमें भी सफल हुए। सन् १९१६ ई० में उन्हें श्वास-रोग हो गया, जिसके कारण वह कुछ अस्वस्थ रहने लगे। कदाचित् इसी कारण वह बाहर कम निकलते हैं। वह सरस्वती के शान्त साधक हैं। गार्हस्थ्य जीवन से भी उन्हें विशेष प्रेम है।

सियारामशरण की रचनाएँ

सियारामशरण की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। उनकी रचनाएँ विभिन्न प्रकार की है। उनका रचना-काल सन् १९१० से आरम्भ होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की ओर समान रूप से उनकी दृष्टि गयी है। इस प्रकार वह हिन्दी के एक सफल साहित्यकार हैं। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं:—

१. कविता—मौर्यविजय, दूर्वादल, आत्मोत्सर्ग, दैनिकी, अनाथ, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, बापू, उन्मुक्त।

२. अतुकान्त गीति-नाट्य—निष्क्रय प्रतिशोध, कृष्णकुमारी।

३. कहानी-संग्रह— कोटर और कुटीर, अन्तिम आकांक्षा, मानुषी।

४. उपन्यास—गोद, नारी।

५. नाटक—पुण्यपर्व।

६. निबन्ध—झूठ-सच।

सियारामशरण की काव्य-साधना

सियारामशरण गुप्त हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के विकास के लिए साहित्य का प्रत्येक कोना झाँका है और उससे स्फूर्ति, चेतना सामग्री एकत्र की है। इसलिए हिन्दी का वर्तमान युग उन्हें कई रूपों में देख चुका है, पर वह अपने कवि-रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा उन्होंने काव्य-ग्रंथ ही अधिक लिखे हैं। पहले उन्होंने वस्तु-पाठात्मक मुक्तक कविताएँ लिखीं, बाद को कथात्मक तथा मुक्तक भावमयी रचनाओं की ओर उनकी रुचि बढ़ी। मुक्तक की प्रतिभा प्रधान होने के कारण गुप्तजी की भाँति प्रबन्ध-काव्य न लिख सके। गुप्तजी में कथा-साहित्य की प्रतिभा है और सियारामशरण में मुक्तक साहित्य की। दोनों बन्धुओं की काव्य-प्रतिभा में यह अन्तर है और इसी अन्तर के अनुसार

उन्होंने अपनी-अपनी प्रबन्ध-प्रतिभा को विभिन्न-क्षेत्रों में प्रतिफलित किया है। हम सियारामशरण की रचनाओं को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. राष्ट्रीयता प्रधान, २. भाव-प्रधान; ३, रहस्यवाद या छायावाद प्रधान और ४. अतुकान्त या मुक्तक काव्य।

सियारामशरण गुप्त की राष्ट्रीयता प्रधान कविताएँ सामयिक और सुन्दर हैं। उनकी ऐसी रचनाओं का आविर्भाव उस समय हुआ था जिस समय देश में राष्ट्रीय आन्दोलन अपने उग्र रूप में चल रहा था। 'मौर्य विजय' उनकी उसी समय की वीर-रसपूर्ण रचना है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य और यूनानी सेनापति सिकन्दर के युद्ध का वर्णन है। अलंकार एवं भाव की दृष्टि से यह उनका अत्यन्त सुन्दर खंड-काव्य है। 'अनाथ' उनका छोटा करुण-रसपूर्ण काव्य है। इसमें एक दरिद्र का चित्रण बड़े मार्मिक शब्दों में अंकित किया गया। 'आत्मोत्सर्ग' स्वर्गीय गणेशशङ्कर विद्यार्थी की पुण्य-स्मृति में लिखा गया है। इसमें आत्मत्याग का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने कृषकों पर भी कई मार्मिक रचनाएँ लिखी हैं। उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में सामयिकता और स्पष्टता अधिक है।

सियारामशरण की भाव-प्रधान रचनाएँ राष्ट्रीय रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक और महत्वपूर्ण है। 'विषाद' और 'आर्द्रा' उनकी भावनामूलक रचनाएँ हैं। इनमें मानव-हृदय की आकांक्षा तथा मार्मिक व्यथा का अंकन बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। इनमें कहीं-कहीं मुक्तक काव्य और छायावादी रचनाएँ भी मिलती हैं। उनकी ऐसी रचनाएँ भी संख्या में यथेष्ट हैं। उनके दार्शनिक विचारों का सुन्दर संमिश्रण हुआ है। 'दूर्वादल' और 'पाथेय' में इस प्रकार की रचनाएँ अधिक हैं। 'पाथेय' में उनकी चिन्तामूलक कृतियाँ हैं। इनमें रहस्यवाद की भी झलक दिखाई देती है विषाद और 'दूर्वादल' की भावनामूलक कविताओं से उनकी कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। इन कविताओं में वह वस्तु-जगत् से

बहुत ऊपर उठे हैं; पर ऐसा करने पर भी वह अन्य छायावादी कवियों की भाँति अस्पष्ट नहीं हुए हैं। निम्न पंक्तियाँ देखिए:—

पद-पूजन का भी क्या उपाय ? तू गौरव-गिरि उत्तम-काय।
तू अमल धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर हैं तेरे पद-दल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल,
पहुँचूँ मैं उन तक किस भाँति हाय ? तू गौरव गिरि उत्तुंग-काय।

इन पंक्तियों को देखकर चेंबर्स नामक विद्वान का यह कथन अत्यन्त समीचीन जान पड़ता है कि मधुर शब्दों में कल्पना और भाव-प्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता कहते हैं, वास्तव में सियारामशरण में भाव-प्रसूत विचारों को मधुर शब्दों में व्यक्त करने की बड़ी क्षमता है।

सियारामशरण मुक्तक काव्य लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। उनकी इस प्रकार की रचना अत्यन्त सफल है। मुक्तक काव्य लिखने-वाले वह पहले कवि हैं। उनके मुक्तक काव्य में भाव, विचार, अनुभूति तथा प्रवाह के साथ-साथ सामयिकता भी है। उनमें मनोभावों का चित्रण बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

काव्य पुस्तकों के अतिरिक्त सियारामशरण ने उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। कहानी तथा उपन्यास कला से भी वह भलीभाँति परिचित हैं। उनकी कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। 'निष्क्रिय प्रतिशोध' उनका गीति नाट्य है। यह उस समय लिखा गया था जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-आन्दोलन चला रहे थे। 'पुण्य पर्व' उनका नाट्य-ग्रन्थ है। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में वह केवल कवि ही नहीं; उपन्यासकार, कहानीकार तथा नाट्यकार भी हैं। वह गद्य लिखने में भी अत्यन्त कुशल हैं।

सियारामशरण गुप्त की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। उन्होंने शब्दों का चयन बड़ी शुद्धता के साथ किया है। उनके शब्द-चयन में

शब्दों का विकृत रूप कहीं भी नहीं मिलता। उनकी भाषा व्याकरण-सम्मत है। संस्कृत के तत्सम शब्दों से उनकी भाषा अत्यन्त सजीव हो गयी है। वह सरल, सुबोध और प्रसाद गुण युक्त है। कविता में शुद्ध खड़ीबोली के प्रयोग का श्रेय गुप्त-बन्धुओं को ही प्राप्त है।

सियारामशरणकी भाषा और शैली

सियारामशरण की शैली सरल और प्रवाहपूर्ण होते हुए भी भाव-प्रकाशन में सशक्त होती है। उनके शब्द-संचय में उलझाव नहीं होता। वह कविता में भी गद्य की भाषा लिखते हैं। उनके वाक्यों में पद-प्रवाह रहता है, पर शब्दों में तरलता नहीं रहती। इससे उनके प्रत्येक रस की भाषा प्रायः एक सी रहती है। इससे रस का संचार उनकी शैली में नहीं हो पाता। पर 'मौर्य-विजय' के अतिरिक्त उनकी अधिकांश कविताएँ नयी शैली और नयी भावनाओं से परिपूर्ण हैं। बँगला की कविता में जिस शैली का प्रचार रवि बाबू ने किया उसका प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सियारामशरण गुप्त हिन्दी की नवीन धारा के प्रथम कवि हैं। उनकी सब से बड़ी विशेषता है हिन्दी काव्य में उन उपेक्षित विषयों को समाविष्ट करना जो दैनिक जीवन के समीप होते हुए भी कवियों का ध्यान आकर्षित नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त गांधीवाद तथा उदार देश-प्रेम की भावना उनकी चिन्तना का प्रमुख गुण है। उनकी भावना में एक प्रकार की निर्मलता रहती है जो पाठक के हृदय को सदैव आकर्षित करती रहती है। उन्होंने जीवन का अध्ययन बड़ी गंभीरतापूर्वक किया है। जिस प्रकार वह अपने वेष में अकृत्रिम रहते हैं उसी प्रकार वह अपने साहित्य में कृत्रिमता का आभास नहीं आने देते। उनकी शैली में अपनापन है। उनकी मुक्तक तथा कथात्मक सभी कविताएँ इतिवृत्तात्मक होती हैं। खड़ीबोली के उदय काल में जन्म लेकर भी वह केवल सामयिक प्रवाह के वाहक नहीं वरन् चिर स्पन्दनशील कवित्व के स्रष्टा भी हैं। उनके कवित्व की सब

से बड़ी विशेषता उनकी विदग्ध लेखनी से निःसृत करुण रस की स्रोतस्विनी में है। उनकी गद्य-पद्य सभी कृतियों में इस स्रोतस्विनी की उच्चतर मेघ-छाया मिलती है। इस दृष्टि से वह हमारे साहित्य के प्रमुख कवि और कलाकार हैं।

—२६—

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म सं० १९५३

कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। उनके पिता, पं० रामसहाय त्रिपाठी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गढ़कोला नामक गाँव के रहनेवाले थे, पर जीविका के कारण उन्हें बंगाल जाना पड़ा। बंगाल में वह मेदनीपुर के महिषा-दल राज्य में नौकरी करते थे। यहीं निरालाजी का जन्म हुआ और यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। राज-दरबार की उनके पिता पर विशेष कृपा थी, इसलिए उसने अपनी ओर से निरालाजी की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया।

जीवन-परिचय

निरालाजी अपनी बाल्यावस्था ही से स्वतंत्रता-प्रिय थे। किसी प्रकार का बन्धन उन्हें अप्रिय था। पाठशाला की बँधी पढ़ाई उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। इसलिए उन्होंने विविध दिशाओं में विविध कलाओं का ज्ञान और अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। अध्ययन के अतिरिक्त उन्हें कुश्ती लड़ने और अश्वारोण में भी विशेष आनन्द मिलता था। इन दोनों कलाओं में वह दक्ष थे। राजकीय कृपा के कारण उन्हें जीवन-निर्माण की सभी सुविधाएँ सुलभ थीं।

संगीताचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण उन्हें संगीत से भी प्रेम हो गया। बँगला भाषा तो उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित थी। इसलिए उसका साहित्य उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने संस्कृत-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम था। अतः इसकी छाप उनके जीवन पर ब राबर बनी रही।

निरालाजी धनी-परिवार के बालक थे। उन्हें अपने बचपन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हो चुका था। इससे दो सन्तानें हुईं—एक लड़का और एक लड़की। लड़की की तो मृत्यु हो गई, पर लड़का जीवित है। उनकी पत्नी, मनोहरा देवी विदुषी थीं। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् निरालाजी ने महिपा-दल राज्य में नौकरी भी कर ली थी। उन्हें आर्थिक संकट भी नहीं था। पर सन् १९१९ के पश्चात् उनके जीवन में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। २२-२३ वर्ष की अल्पावस्था में उनकी पत्नी का देहान्त हो जाने से उनकी जीवन-दिशा बदल गई। उन्होंने राज्य की नौकरी त्याग दी। इससे उन्हें आर्थिक संकटों का सामना अवश्य करना पड़ा, पर इस बात की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की।

इस समय तक निरालाजी हिन्दी-साहित्यिकों के सम्पर्क में आ चुके थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उनकी प्रतिभा से भली-भाँति परिचित हो चुके थे और उन्हें बराबर प्रोत्साहन दिया करते थे। इसलिए जब निरालाजी महिषा-दल से पृथक् हुए तब सम्वत् १९७८ में द्विवेदीजी ने उन्हें 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के प्रधान केन्द्र बैलूर मठ में 'समन्वय' का सम्पादन करने के लिए भेज दिया। निरालाजी को अपनी रुचि के अनुसार कार्य मिल गया। इस कार्य-भार को ग्रहण करने से उन्हें भारतीय दर्शन की नवीनतम व्याख्या को निकट से अध्ययन करने का शुभ अवसर हाथ लग गया। अतः उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों का

गम्भीर अध्ययन किया। इससे उनके अपरिपक्व विचारों में प्रौढ़ता और दार्शनिकता आ गई।

'समन्वय' कलकत्ता से निकलता था, पर जब कुछ दिनों पश्चात् वहाँ स्वर्गीय श्री महादेवप्रसाद सेठ द्वारा हिन्दी का नवीन आयोजन हुआ 'मतवाला' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा तब निरालाजी इसके सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उनके विशेष प्रयत्नों से यह पत्र चमक उठा और थोड़े ही दिनों में वह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। यह हास्य और व्यंग का प्रमुख पत्र था।

'मतवाला' में एक वर्ष तक कार्य करने के पश्चात निरालाजी कलकत्ता छोड़कर लखनऊ चले आये और वहाँ कुछ समय तक रहकर अपने गाँव चले गये। गाँव से आकर उन्होंने पुनः लखनऊ को ही स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाना पसन्द किया, पर अधिक दिनों तक वहाँ उनका जी नहीं लगा। लखनऊ के पश्चात् उन्होंने प्रयाग को अपनाया। सम्वत् २००३ वि० में काशी की नागरी-प्रचारणी-सभा में उनकी जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई। इस जयन्ती में हिन्दी के बहुत से साहित्यिकों ने भाग लिया और उनकी साहित्यिक सेवाओं की मार्मिक शब्दों में प्रशंसा की। निरालाजी अभी जीवित हैं, पर शरीर और मन दोनों से वह शिथिल हो गये हैं। उनका साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो चुका है।

निरालाजी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कलाकार हैं। उनकी गणना द्विवेदी-युग के आरम्भ के द्वितीय खेवे के साहित्यकारों में की जाती है।

निराला जी की रचनाएँ

उनका साहित्यिक जीवन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९१९ से आरम्भ होता है। तब से अब तक उन्होंने हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है। 'समन्वय' का सम्पादन करने के अतिरिक्त उन्होंने लगभग ५४ ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के परिवर्तन तथा विकास में उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है। उनके ग्रन्थ इस

प्रकार हैं :—

१. काव्य— परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका (नवीन), कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते, अपरा।

२. उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरूपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली।

३. कहानी-संग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी।

४. रेखा-चित्र—कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

५. आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह—प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा, प्रबन्ध परिचय, रवीन्द्र कविता-कानन।

६. जीवनियाँ—राणा प्रताप, भीष्म, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला।

७. अनुवाद— महाभारत, श्री रामकृष्ण-वचनामृत चार भागों में, परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्द-मठ, चन्द्रशेखर, कृष्णकान्त का बिल, दुर्गेशनन्दिनी, रजनी, युगलांगुलीय, राधारानी, तुलसीकृत रामायण की टीका, वात्सायनकृत कामसूत्र, गोविन्ददास पदावली पद्य में (अप्रकाशित)।

निरालाजी हिन्दी की अमर विभूति हैं। वह कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। वह कवि हैं, कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं, निबन्धकार हैं और रेखा-चित्रकार हैं। उन्होंने आलोचना भी की है, पर

निरालाजी की काव्य-साधना

हिंदी-जगत् में निरालाजी अपने कवि रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने इस रूप में वह उच्च कोटि के कलाकार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बंग-साहित्य में पोषित होने के कारण उनकी कलाकृतियाँ उससे अवश्य प्रभावित हुई हैं, पर जैसा अन्यत्र कहा गया है उन्होंने प्रत्येक प्रभाव पर अपने पौरुष और अपने गम्भीर दार्शनिक विचारों की मुद्रा अंकित कर दी है। वह हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। अद्वैतवाद की जटिल और संस्कृतमयी विचारधारा का सरस-सहज प्रकाशन उनकी रचना में बड़ी ही रमणीयता और सुन्दरता से हुआ है। उनके भावों की

व्यञ्जना बड़ी ही विशद और प्रभावोत्पादक होती है। उन्होंने पार्थिव और अपार्थिव दोनों के उत्तम और निर्मल शब्द-चित्र हिंदी को दिये हैं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि बड़ी प्रखर, व्यापक और सूक्ष्म है। यही कारण है कि उन्होंने जीवन-जगत् और प्रकृति के जो अनेक मनोरम चित्र अपनी अन्तर्भावना के सामञ्जस्य से उतारे हैं उनसे हिन्दी-साहित्य को, विशेषतः काव्य-साहित्य को यथेष्ट बल मिला है।

निरालाजी का काव्य-साहित्य वर्णनात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार का है। उनकी वर्णनात्मक रचनाओं में तुलसीदास और 'राम की शक्ति-पूजा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके गीत हिन्दी-काव्य की विशेष निधि हैं। उनके गीतों में उनकी भावना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी गीतात्मक और मुखरित हो उठी है। उनमें भावों का तीव्र वेग है, तन्मयता और तल्लीनता है। भाव और संगीत का सुन्दर समन्वय उनके गीतों में ही हुआ है। उनमें हमें उनके प्रेम और भक्ति की कोमलतम भावनाओं का सहज स्पन्दन और उनके अद्वैतवादी सिद्धान्तों का तन्मय राग मिलता है। 'परिमल' उनकी ऐसी ही मार्मिक और हृदय-भेदी रचनाओं का संग्रह है। इन गीतों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ करुणा और सहानुभूति के आधार पर खड़ी हैं। उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' में हुआ है। इन गीतों में विषय का वैविध्य अत्यधिक है। कुछ गीतों में जिज्ञासा का भाव है, कुछ में भक्तिपूर्ण उद्‌गार है और कुछ में देश-भक्ति है। कुछ गीतों से कवि की आशावादिता भी परिलक्षित होती है। इधर कुछ दिनों से वह वस्तुवाद की ओर भी झुके हैं। यह उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव जान पड़ता है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में उनके काव्य के आदर्श बहुत पीछे छूट गये हैं। अब केवल सिद्धान्तवाद और वस्तुओं का वास्तविक चित्रण ही उनकी कविता का विशेष गुण रह गया है।

निरालाजी कहानीकार और उपन्यास-लेखक भी हैं, पर इन

रूपों में हिन्दी-जगत् ने उन्हें स्वीकार नहीं किया है। सखी, अप्सरा, अलका, लिली, प्रभावती आदि में उन्होंने वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर विकासमूलक मनोरम अंशों को ही अपनाया है। कविता की भाँति वह उपन्यास तथा कहानियों में भारतीय संस्कृति को भूले नहीं हैं। उन्होंने इन रचनाओं में अपनी विद्या-बुद्धि और अपनी संस्कृति से ही नायिकाएँ संघटित की हैं। इनमें घटनाएँ हैं, पर ऐसी नहीं जो पात्रों पर शासन करती हों। उनकी कहानी तथा उपन्यास में घटनाओं का संकलन पात्रों को प्रकाश में लाने के लिए हुआ है। उनके रेखा-चित्र उनकी कहानियों तथा उपन्यासों से उत्कृष्ट हैं। उनके गद्य में शक्ति और ओज, व्यंगशीलता और चुटकियाँ, अक्खड़पन और रसिकता एक साथ मिलती हैं काव्य की भाँति वह अपने गद्य में भी रहस्यवादी हैं।

निरालाजी की छन्द-योजना विस्तृत और विशाल है। उन्होंने हिन्दी छन्दों में कई स्वतंत्र प्रयोग किये हैं। उनके मुक्तक अतुकान्त छन्द हिन्दी में एक नये युग का विधान करते हैं। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं, पर इस दिशा में वह अधिक सफल नहीं हुए हैं। मात्रिक छन्दों का उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उनके छन्द संगीतमय और नाटकीय होते हैं।

निरालाजी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण खड़ीबोली है। उस पर बंग-भाषा का भी प्रभाव है। उन्होंने बंग-भाषा के बहुत से शब्द अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक प्रयोग किये हैं। उर्दू और फ़ारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। ऐसे विदेशी शब्दों के प्रयोगों से कभी तो उनकी भाषा में जान आ जाती है, पर कभी हलके भी पड़ जाते हैं। उनके वाक्य-विन्यास पर बंग-शैली का स्पष्टतः प्रभाव है। भाषा की दृष्टि से वह शब्द-रासायनिक कहे जाते हैं। और उसके प्रयोग में वह बड़े समर्थ हैं। उन्होंने अपनी

निरालाजी की भाषा और शैली

रचनाओं में खड़ीबोली को संगीतात्मक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए खड़ीबोली की कर्कशता उनकी रचनाओं में नहीं है। उनकी रचनाओं में जहाँ बौद्धिक तत्त्व अधिक है, वहाँ उनकी भाषा जटिल और दुरूह है, पर जहाँ हृदय-तत्त्व की प्रधानता है वहाँ भाषा संस्कृतयुक्त कोमल-कान्त-पदावली के प्रयोगों से सजी हुई है। उन्होंने विशेष मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक परिस्थिति के अवसर पर भाषा के अत्यन्त व्यंजक प्रयोग किये हैं और अपने शब्द-कोष में अप्रत्याशित विस्तार भी किया है। कोई भी शब्द उन्हें अग्राह्य नहीं है। वह विशेषतः अभिधात्मक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं और जहाँ से चाहते हैं, जनता से, काव्य से, शास्त्र से, धर्म से, दर्शन से, उन्हें उठा लेते हैं और फिर उसका सबसे अच्छा प्रयोग करते हैं।

निरालाजी की ऐसी रचनाओं में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है, पर इस प्रकार की भाषा सर्वत्र नहीं है। क्लिष्ट भाषा का उदाहरण लीजिए :—

गंध-व्याकुल—कूल—उर—सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर
हर्ष-अलि हर स्पर्श शरसर,
गूँज वारंवार! (रे कह)

भाषा की भाँति निरालाजी की शैली भी बंग-शैली से प्रभावित है। समासयुक्त लम्बी पदावलियों का बाहुल्य और क्रियापदों का लोप आदि उनकी शैली में विशेष रूप से पाया जाता है। एक शब्द को उठाकर दूसरे स्थान पर समस्त पद का अंग बना देने में ही उनकी शैली का चरमोत्कर्ष है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में कम है। उन्होंने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधा शैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। वह अपनी शैली में सर्वथा स्वतंत्र रहे हैं। विद्रोही कवि के कारण उन्होंने अभिव्यक्ति की किसी विशिष्ट प्रणाली के भीतर अपनी विचारधारा को बाँधना स्वीकार नहीं किया है। उनकी शैली

ओजमय, पठन-कलायुक्त और नाटकीय छटा से परिपूर्ण है। शृङ्गार की मधुरिमा और वीर रस का ओज उनकी शैली की विशेषता है। अनुप्रास के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। संगीतमय सांगोपाग रूपक बाँधने में वह सिद्ध-हस्त हैं।

-२७-

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्म सं० १९५४

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म ग्वालियर राज्य में उज्जैन के निकट शुजालपुर परगने के भयाना नामक ग्राम में संवत् १९५४ में हुआ था। उनके पिता पं० जमनादास

जीवन-परिचय साधारण स्थिति के ब्राह्मण थे। वल्लभाचार्य के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण वह उदयपुर-राज्यान्तर्गत वैष्णवों के प्रधान तीर्थ श्रीनाथद्वारा में रहते थे, इसलिए कुछ बड़े होने पर नवीनजी भी अपनी माता के साथ वहाँ जाकर रहने लगे। वहाँ शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिए कुछ दिनों बाद वह अपनी माता के साथ ग्वालियर राज्य के शाजापुर नामक कस्बे में चले आये। १० वर्ष की अवस्था में उन्होंने पढ़ना लिखना आरंभ किया। शाजापुर के सेठ भगवानदास झालानी से उन्हें विशेष आर्थिक सहायता मिली। वहाँ से अंगरेजी मिडिल पास करने के पश्चात् हाई स्कूल की शिक्षा के लिए वह उज्जैन चले गये और माधव कालेज में प्रविष्ट हुए। सन् १९१६ ई० में उन्होंने इस कालेज से मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की।

उज्जैन से नवीनजी कानपुर गये। पढ़ने की उनमें लगन थी।

सन् १९१६ में जब वह पहली बार लखनऊ-कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे तब वह श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आ चुके थे। इसलिए शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जब वह कानपुर गये तब वह स्व० विद्यार्थीजी के यहाँ ही ठहरे। उनके सहयोग से वह क्राइस्ट चर्च कालेज में पढ़ने लगे। नवीनजी की आर्थिक दशा आरंभ से ही अच्छी नहीं थी, इसलिए विद्यार्थीजी उनकी आर्थिक सहायता किया करते थे। इसके अतिरिक्त निजी रूप से विद्यार्थियों को पढ़ाकर भी वह कुछ पैदा कर लेते थे। इस प्रकार उनका काम चल जाता था। क्राइस्ट चर्च कालेज में उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। जिस वर्ष वह बी० ए० में थे उसी वर्ष असहयोग आन्दोलन आरंभ हुआ। बहुत से विद्यार्थी कालेज छोड़कर देश-सेवा में लग गये। नवीनजी पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने कालेज छोड़ दिया और विद्यार्थीजी के साथ राष्ट्रीय कार्य में लग गये।

राष्ट्रीय कार्य करते हुए नवीनजी को कई बार जेल जाना पड़ा। सन् १९२१ ई० के दिसम्बर मास में वह पहली बार डेढ़ वर्ष के लिए जेल गये। अपने इस जेल-जीवन में उन्होंने 'विस्मृता उर्मिला' लिखना आरंभ किया, पर वह उस समय इसे पूरा न कर सके। सन् १९३० में वह दो बार और सन् १९३२ में एक बार ढाई वर्ष के लिए जेल गये। अपनी इस जेलयात्रा में उन्होंने 'विस्मृता उर्मिला' को पूर्ण किया। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि नवीनजी विद्यार्थी जीवन से मुक्त होने के पश्चात् बराबर साहित्य और राष्ट्र का कार्य करते रहे हैं। उनके जीवन पर लखनऊ-कांग्रेस तथा स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। लखनऊ-कांग्रेस ने जहाँ उनके जीवन में उत्साह का संचार किया है वहाँ विद्यार्थीजी के १५ वर्ष के पुनीत सहयोग एवं साहचर्य ने उनके उत्साह को कार्य रूप में परिणत किया है। वस्तुतः नवीनजी आज जो कुछ हैं वह विद्यार्थीजी का ही प्रसाद है।

नवीनजी सरल, सहृदय और उदार व्यक्ति हैं। उनके जीवन

में कृत्रिमता नहीं है। आर्थिक संकटों के बीच ही उनके जीवन का विकास हुआ है। वह अपने जीवन की परिस्थितियों से संघर्ष लेने में अत्यन्त कुशल हैं। उनकी वाणी में ओज और स्वभाव में कोमलता है। राष्ट्रीय चेतना उनकी रग-रग में भरी हुई है। उनकी इस चेतना पर गांधीवाद का प्रभाव है। वह ओजस्वी वक्ता, कुशल कवि और सफल कहानी लेखक हैं। विद्यार्थीजी के संसर्ग से ही उनकी राष्ट्रीय और साहित्यिक भावनाओं का बल मिला है। अपनी भाषा और अपने राष्ट्र से उन्हें विशेष प्रेम है। इस समय वह हमारे प्रान्त के एक प्रमुख नेता हैं।

नवीनजी की रचनाएँ

नवीनजी नवीन धारा के प्रथम चरण के कवि हैं। उनका रचना-काल सन् १९१८ से आरंभ होता है। उनकी पहली रचना 'संतू' नाम की कहानी मुरादाबाद से प्रकाशित होनेवाली 'प्रतिभा' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद धीरे-धीरे उन्होंने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने कई राष्ट्रीय भावना प्रधान कविताएँ लिखीं। इन कविताओं से उनकी लोकप्रियता बढ़ गयी। राष्ट्रीय कार्यों में अधिक व्यस्त रहने के कारण उन्होंने साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसलिए उनकी स्फुट रचनाएँ ही मिलती हैं। 'कुंकुम' में उनकी पुरानी कविताएँ संगृहीत हैं। उन्होंने 'विस्मृता उर्मिला' एक सुन्दर काव्य अवश्य लिखा है। कहानी, गद्य-काव्य तथा निबन्ध लिखने में भी वह पटु हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुई हैं।

नवीनजी की काव्य-साधना

नवीनजी की रचनाओं का हिन्दी में एक विशिष्ट स्थान है। वह हिन्दी के राष्ट्र-कवि माने जाते हैं। उनकी कविता में वीर और शृंगार रस का बड़ा ही उन्मादक संमिश्रण रहता है। हृदय के उमड़ते हुए भावों को वह अपनी प्रत्येक पंक्ति में आकंठ भर देने का प्रयत्न करते हैं। विरह-वेदना की तड़प उनकी प्रायः प्रत्येक कविता में रहती है। वह

जीवन की मस्ती के गायक हैं उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उन्होंने नवीन युग की भाव-धाराओं का अपनी रचनाओं में बड़ी कुशलतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया है। हमारे आज के जीवन में जो वैषम्य है, पग-पग पर आघात और विफलताओं का जो क्रन्दन है, संघर्ष से उभड़नेवाले विद्रोहों की जो चीत्कार है वह सब उनकी कविता में पूर्ण वेग के साथ फूट पड़ा है। इससे उनकी रचनाओं में सरसता, उन्माद और वेदना का अपूर्व मिश्रण हो गया है। निराशा, वेदना और करुणा के वह अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं। अतः मस्ती, मादकता और उन्माद उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं।

नवीनजी अपने विचारों तथा मान्यताओं में जितने दृढ़ हैं, भावना-पक्ष में उतने ही कोमल हैं। उनकी रचनाएँ प्रायः भाव-प्रधान होती हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह की भाँति उन्होंने किसी विशेष दृष्टि से अपने काव्य को जन्म नहीं दिया है। उनके मन में जब जो भाव जिस प्रकार उठते हैं उनको वह उसी प्रकार अपने शब्दों का परिधान पहनाकर उपस्थित कर देते हैं। इससे उनकी रचनाओं में सरलता के साथ-साथ सरसता भी बनी रहती है। भाव और अनुभूति का सुन्दर समन्वय भी कदाचित इसीलिए उनकी रचनाओं में हुआ है। उनकी रचनाओं को हम तीन रूपों में पाते हैं— (१) सामयिक तथा राष्ट्रीय रचनाएँ, (२) शृङ्गार तथा करुण रस प्रधान रचनाएँ और (३) कल्पना प्रधान वर्णनात्मक रचनाएँ।

नवीनजी की सामयिक और राष्ट्रीय रचनाएँ ओज तथा प्रसाद-गुण-युक्त होती हैं। उनकी सामयिक रचनाओं में 'विप्लव गायन' अधिक प्रसिद्ध है। इसमें उनके हृदय का सारा ओज फूट पड़ा है। देखिए :—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि त्राहि रव नभ में छाये।

नाश और सत्यनाशों का धुआँधार जरा में छा जाये।

इन पंक्तियों में नवीनजी के हृदय का वेग देखने योग्य है। इनमें उनका पुरुषत्व जाग उठा है। ऐसा जान पड़ता है कि उनमें भावना का स्रोत उमड़ पड़ा है और वह उसे सँभालने में असमर्थ हैं। उनका 'पराजय गीत' ऐसा ही ओजमय और क्रान्तिकारी विचारों से परिपूर्ण है। बात यह है कि वह प्रभावशाली राष्ट्रवादी व्यक्ति हैं। इसलिए उन्होंने अपने जीवन के संचित अनुभवों को ही वाणी दी है।

नवीनजी की दूसरी प्रकार की रचनाएँ प्रणय-सम्बन्धी हैं। इनमें प्रेम, उन्माद, हृदय की वेदना और निराशा का चित्रण है। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवन में एक अभाव है जिसकी पूर्ति वह 'सजनी' आदि विशेषणों से किया करते हैं। उनकी ऐसी कविताएँ भावात्मक होते हुए भी प्रायः लम्बी होती हैं। बात यह है कि जिस समय उन्हें हृदय की हूक उद्वेलित करती है उस समय वह अपने भावों की आराधना में तन्मय हो जाते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ विशेष रूप से प्रभावोत्पादक होती हैं और पाठक के हृदय को छटपटा देती हैं।

नवीनजी की वर्णात्मक रचनाएँ भी अत्यन्त उत्कृष्ट होती हैं। 'विस्मृता उर्मिला' उनका वर्णात्मक महाकाव्य है। इसमें उन्होंने उर्मिला का चरित्र-चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है, पर कहीं-कहीं उन्हें सफलता नहीं मिली है। इस प्रकार अपनी मुक्तक रचनाओं में वह जितने सफल हैं उतने वर्णात्मक में नहीं हैं।

नवीनजी की भाषा खड़ीबोली है, पर वह बड़ी बीहड़ और अटपटी है। शब्द-चयन की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया है। इससे उनकी रचनाओं में भाषा का सौंदर्य नहीं है। उनके शब्द उनके भावों के उपयुक्त वाहन नहीं हैं। उनकी शब्द-योजना पर यत्र-तत्र उर्दू तथा ब्रजभाषा का भी प्रभाव देखने में आता है। कहीं-कहीं शब्दों के वास्तविक तथा शुद्ध

नवीनजी की भाषा और शैली

रूप भी विकृत हो गये हैं। भाषा पर पूर्ण अधिकार न होने से उनके भावों तथा विचारों में विस्तार भी आ गया है।

भाषा में सजावट न होने के कारण नवीनजी की शैली में विशेष आकर्षण नहीं है। लिखते समय वह अपने भावों के प्रवाह में बह जाते हैं; इससे उन्हें भाषा का ध्यान नहीं रहता और उनके विचारों में तारतम्यता भी नहीं आती। उनके शब्द और वाक्य-विन्यास शिथिल और शक्तिहीन हैं। उनकी शैली से यह स्पष्ट है कि वह भाव और भाषा में संतुलन नहीं कर सके हैं। इन त्रुटियों के होते हुए भी उनकी शैली ओज और प्रवाहयुक्त है। उसमें स्पन्दन है, चुटीलापन है, तड़प है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीनजी नवीन धारा के प्रतिभाशाली कवि हैं। उनका साहित्यिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार का जीवन राष्ट्र के प्रति सेवा-भाव से पूर्ण है और उनका व्यक्तित्व दोनों में समान रूप से क्रियाशील रहता है। कविता के अतिरिक्त वह कहानी तथा गद्य-काव्य लिखने में भी कुशल हैं। 'प्रताप' के सम्पर्क में रहने के कारण वह एक अनुभवी पत्रकार भी हैं। उनके राजनीतिक निबन्ध बड़े गवेषणापूर्ण होते हैं। अपनी कविताओं में कहीं-कहीं वह अध्यात्मवाद से प्रतीत होते हैं, पर इस ओर वह बहुत गहराई में नहीं उतरे हैं। भावविन्यास में वह किसी प्रकार छायावादी कवियों से पीछे नहीं हैं, पर उनकी सफलता है उनके देश प्रेम की काव्यात्मक अनुभूति के साथ हृदय की झाँकियों को मिला देने में। इसी कारण उनमें प्रभविष्णुता अधिक है। वह वस्तुतः सफल जीवन के कवि हैं और उसी की मस्ती के कुशल गायक हैं। हिन्दी संसार उन्हें इसी रूप में मानता है।

—२८—

सुमित्रानंदन पंत

जन्म सं० १९५७

अल्मोड़ा से लगभग २५ मील उत्तर की ओर कौसानी एक रमणीक प्रकृति-सौंदर्यपूर्ण पार्वतीय ग्राम है। इसी ग्राम में सं० १९५७ में पं० सुमित्रानन्दन पंत का जन्म हुआ था। उनके पिता पं० गंगादत्त पंत जमींदार थे। और कौसानी राज्य में कोषाध्यक्ष का काम करते थे उनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। पंतजी उनकी सबसे छोटी सन्तान हैं। वह चार भाई हैं। उनके यहाँ जमींदारी का काम अब भी होता है।

जीवन-परिचय

पंत की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में सात वर्ष की अवस्था से आरम्भ हुई। यहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। इस स्कूल में उन्होंने नवीं कक्षा तक पढ़ा। इसके बाद वह काशी चले गये और सन् १९१७ ई० में वहाँ के जयनारायण हाईस्कूल से स्कूल-लीविंग की परीक्षा पास की। सन् १९१९ ई० में वह प्रयाग आये और म्योर सेंट्रल कालेज में प्रविष्ट हुए। यहाँ उनकी विकासोन्मुखी प्रतिभा को आश्रय मिला। आरम्भ ही से साहित्यिक अभिरुचि रखने के कारण कालेज में पढ़ते समय पं० शिवाधार पाण्डेय का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। वह हिन्दी के पुराने लेखक तथा काव्य-मर्मज्ञ थे और उनका अध्ययन भी गम्भीर था, इसलिए उन्होंने पंतजी की काव्य-प्रतिभा देखकर अँगरेजी कवियों की रचनाएँ पढ़ने में उन्हें विशेष सहायता दी। उन्हीं की देख-रेख में पंतजी ने उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध आलोचनात्मक निबन्धों, भास आदि के नाटकों तथा तुलनात्मक

आलोचना का अध्ययन किया। निरन्तर अध्ययन से पंतजी की रुचि साहित्य और काव्य-रचना की ओर परिष्कृत रूप से अग्रसर हुई।

सन् १९२२ ई० में पंतजी को अपना कालेज-जीवन समाप्त कर देना पड़ा। इसके पश्चात् वह घर चले गये और वहाँ उन्होंने स्वतंत्र रूप से अध्ययन करना आरम्भ किया, उनका अध्ययन कई दिशाओं में हुआ है। अँगरेजी तथा विदेशी साहित्यकार के काव्यों, श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों और संस्कृत के काव्यों का मनन करने से उनकी प्रतिभा को पर्याप्त बल मिला है। उपनिषद्, दर्शन तथा आध्यात्मिक साहित्य की ओर भी उनकी रुचि रही है। बँगला-साहित्य, विशेषतः रवि बाबू के साहित्य, का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। संगीत से उन्हें विशेष प्रेम है। उन्होंने कुछ दिनों तक 'रूपाभ' मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है। मद्रास में रहकर उन्होंने उदयशङ्कर के चलचित्र 'कल्पना' का कार्य भी किया है। इस समय वह लोकायन संस्कृति-पीठ के निर्माण और संघठन में लगे हैं।

पंतजी की रचनाएँ

पंतजी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य को कई काव्य-पुस्तकें दान की हैं। विद्यार्थी-जीवन से ही काव्य-रचना की ओर अग्रसर होने के कारण उनकी रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. **काव्य**—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रंथि, गुञ्जन, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्या, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल, युग-पथ।

२. **नाटक**—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्सना।

३. **उपन्यास**—हार।

४. **कहानी-संग्रह**—पाँच कहानियाँ।

५. **अनुवाद**—उमर खय्याम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद।

पंतजी हिन्दी की नई धारा के जागरूक कवि और कलाकार हैं। यों तो वह अपने विद्यार्थी-जीवन से हिन्दी की सेवा करते आ रहे

हैं, पर यथार्थ रूप से हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश सन् १६१७-१८ से होता है। उस समय की उनकी रचनाएँ 'वीणा' में संगृहीत हैं। इन कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरंभ ही से उनका झुकाव हिन्दी की काव्य-परम्परा के नवीन दिशा की ओर था। प्रकृति-सुन्दरी की गोद में जन्म लेने तथा अपने विद्यार्थी जीवन में शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों की स्वच्छंन्द प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उन्हें अपनी नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अंगरेजी तथा बंगला-साहित्य से बहुत कुछ लेकर उसे अपने काव्य का पाथेय बनाया और अपने भावों के अनुरूप ही उन्होंने अपनी भाषा का भी संस्कार किया। इसलिए अंगरेजी साहित्य जाननेवाले नवयुवकों में उनकी रचनाएँ लोकप्रिय होने लगीं और आज हम उन्हें हिन्दी की एक नवीन धारा का नेतृत्व करते हुए पाते हैं।

पंतजी की काव्य-साधना

पन्तजी प्रकृति और जीवन की कोमलतम् विविध भावनाओं के कवि हैं। वह जो कुछ कहते हैं, उसमें स्वाभाविकता होती है और उनके शब्द-चित्र भाव-चित्रों का निर्माण करते चलते हैं। बादल, बिजली, तारे, चन्द्रमा, प्रातः, सन्ध्या, नदी, झरना, भूधर, पुष्प आदि के मनोरम एवं गंभीरतम चित्रण के साथ जीवन के विभिन्न अंगों पर विशद वर्णन और रूपनिर्माण में वह अप्रतिम हैं। उनका कवि प्रधान रूप से कलाकार है। उनके काव्य में कला, विचार तथा भावों का सम्मिश्रण इतनी सुन्दरता से होता है कि एक को दूसरे से पृथक करना असंभव हो जाता है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की प्राणवाहिनी त्रिवेणी उनकी रचनाओं में बिम्बित-प्रतिबिम्बित होती हुई चलती है। भावों का मूर्त-चित्र उतारने में हिन्दी का कोई कवि उसकी समता नहीं कर सकता।

पन्तजी मननशील कवि हैं। जीवन के प्रत्येक रूप को, प्रकृति

की प्रत्येक छवि को उन्होंने आत्मविभोर एवं तन्मय होकर देखा है। इसलिए जिस दिशा में, जिधर उनकी लेखनी चली है, उधर ही वह अपने में पूर्ण हो उठी है। उनकी रचनाओं में जीवन की उत्तम अनुभूति पद-पद से लक्षित होती है। जगत् के भावात्मक और बौद्धिक चित्रों में वह सर्वप्रथम मानवतावादी कवि हैं। इस प्रकार उनके काव्य-जगत् में दो धाराओं का सन्निवेश हो गया है—एक में उनके कवि-हृदय का स्पन्दन है, दूसरी में विश्व-जीवन की धड़कन। सन् १९१८ से १९३२ तक की उनकी रचनाएँ पहली धारा के अन्तर्गत आती हैं और इसके बाद की रचनाएँ दूसरी धारा में। हाल की कविताओं में विश्व-जीवन ने उनके कवि-हृदय पर प्रधानता प्राप्त कर ली है। उनमें शब्द कवि के हैं, विचार-तत्त्व चिन्तक के। जीवन के प्रारम्भिक चरणों में मानव-हृदय स्वभावतः सौंदर्य और प्रेम की कल्पना-प्रधान अभिव्यक्ति के लिए ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत ही रहती है। इसके बाद ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है त्यों-त्यों वह आत्मरूप के चिन्तन में निमग्न होने लगता है। पन्तजी के विकास का भी यही स्वाभाविक क्रम रहा है। विश्व-सौंदर्य ने उन्हें पहले भावुक बना दिया था, पर अब विश्व-जीवन ने उन्हें जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है।

पन्तजी मुख्यतः दृश्य-जगत् के कवि हैं। पहले वह प्राकृतिक सौंदर्य के कवि थे और अब वह जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। इसलिए अदृश्य अध्यात्म के प्रति उनमें विशेष उत्कण्ठा नहीं है। यही कारण है कि उनकी रहस्यभावना स्वाभाविक एवं सरल है। उसमें कबीर अथवा जायसी की-सी साम्प्रदायिकता नहीं है। आस्तिकवादी होने के कारण वह उस विराट् सत्ता के प्रति आश्चर्य प्रकट करके ही रह जाते हैं। इससे आगे वह नहीं बढ़ते। वह वस्तुतः मानव-जीवन को सुख-दुःख के बन्धनों से मुक्त करके सार रूप में अपनाने के पक्षपाती हैं। वैराग्य में उनका विश्वास नहीं है। वह कर्म में विश्वास करते हैं। इस

ज्ञान-विज्ञान के युग में वह मानव की आर्थिक और अभिवृद्धि ही नहीं चाहते, वह चाहते हैं मानव का विकास। उनका विश्वास है कि सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपभोग कर सकती है और पशु से देवता बन सकती है।

पन्तजी ने मात्रिक छन्दों में ही अपने समस्त काव्य-ग्रंथों की रचना की है। उनका विचार है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों द्वारा ही हो सकती है। इसलिए उन्हें हिन्दी छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि छन्द अधिक प्रिय हैं। इन छन्दों में उन्होंने अपनी रुचि तथा संगीत की रक्षा के विचार से परिवर्तन भी किया है। उनके छन्दों में एकस्वरता नहीं है। छन्दों की एकस्वरता को नष्ट करने तथा भावाभिव्यक्ति के सहज प्रवाह का निर्वाह करने के लिए उन्होंने उनके चरणों को घटा-बढ़ाकर न्यूनाधिक परिवर्तन भी किया है। उन्होंने मुक्तक-छन्द भी लिखे हैं। उनकी छन्द-योजना पर अँगरेजी छन्दों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

पन्तजी खड़ीबोली के कवि हैं, पर उन्होंने अपनी कविता में जिस खड़ीबोली को स्थान दिया है वह उनकी अपनी खड़ीबोली है।

पंतजी की भाषा और शैली

वह अपनी खड़ीबोली के स्वयं निर्माता हैं। संगीत-प्रिय होने के कारण उन्होंने गुप्तजी तथा प्रसादजी से प्राप्त होनेवाली भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन किया है। उन्होंने अपनी काव्य भाषा को अधिक-से-अधिक लय, ताल और संगीत के निकट लाने की चेष्टा की है। अपनी इस चेष्टा में वह सफल भी हुए हैं। उनकी भाषा कोमल है और उनके मधुर भावों को वहन करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। वह भाषा की कला के अच्छे जानकार हैं और उसे अपने भावानुकूल बनाने में पटु हैं। उन्होंने उस पर अपना इतना अधिकार जमा लिया है कि वह उनके पीछे-पीछे चलती है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल

अवश्य है, पर उन्होंने उसकी कोमलता और मधुरता का ध्यान रखा है।

पंतजी की भाषा चित्र-भाषा है। उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर होते हैं। उनकी भाषा में उनके शब्द सेना के सिपाहियों की भाँति अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते पाये जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि शब्द-चयनपर उनका विशेषाधिकार है। उनकी रचना का प्रत्येक शब्द उनकी साधना का, उनके चिन्तन का परिणाम है। संस्कृत की व्यंजनापूर्ण तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य होने हुए भी उन्होंने अपनी रचना के लिए व्रजभाषा, फारसी, उर्दू तथा अँगरेजी के शब्दकोषों से भी सहायता ली है और उन्हें अपने काव्योचित साँचे में ढालकर कोमल, चित्रमय और कर्णसुखद बनाया है। संस्कृत के अक्षय भाण्डार से उन्होंने रंगीन शब्दों का ही चयन किया है। व्रजभाषा के अजान, दई, दीठ, काजर, कारे; फारसी के नादान, चीज तथा अँगरेजी के रूम इत्यादि शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर उन्होंने अपनी सरसता और भाषा-कला-विद्वत्ता का एक साथ परिचय दिया है। उन्होंने नये शब्द भी गढ़े हैं। स्वप्निल, प्रिय, सिंगार, अनिर्वच आदि उनके अपने गढ़े हुए शब्द हैं। वह सा, सी, रे आदि का प्रयोग भी अत्यधिक करते देखे जाते हैं। संगीत का निर्वाह करने के लिए ही कदाचित् उन्होंने इनका स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है।

पन्तजी की भाषा में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'मनोज' शब्द लीजिए। यह शब्द रूढ़ है कामदेव के अर्थ में, पर पन्तजी ने व्युत्पत्ति-अर्थ में इसका प्रयोग करके बापू के लिए सार्थक कर दिया है। 'अछूत' भी एक ऐसा ही शब्द है। प्रचलित शब्द के अनुसार नये शब्द बनाने की कला में भी वह पारंगत हैं। उनके लिए एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्तरूप रखते हैं, इसलिए हम उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। प्रहसित, विहँसित, स्मित,

पुराचीन, प्राचीन आदि शब्दों की उपयुक्तता, भावों के लिए उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्यता उनके भाषासौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं एक ही शब्द से उनकी कविता प्राणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक वाक्य में ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

पंतजी की भाषा में व्याकरण की कठोरता भी कोमल की गई है। व्याकरण के नियमों का कहीं-कहीं उल्लंघन करके उन्होंने अपनी भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। अपने इस प्रयास में उन्होंने कई शब्द पुल्लिंग से स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग से पुल्लिंग में प्रयोग किये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के सन्धि-नियमों में भी उन्होंने परिवर्तन किया है। 'मरुताकाश' उनका एक ऐसा ही शब्द है। ऐसा उन्होंने केवल शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित करने के विचार से ही किया है। मुहावरे तथा कहावतों के प्रयोग का उनकी भाषा में अभाव है और जहाँ है भी वहाँ उनके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया है।

पंतजी की पद-योजना अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत के कवियों की पद-योजना से प्रभावित है। संस्कृत की समस्त पदावली का प्रयोग उन्होंने उच्छ्वसित कल्पना और भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया है, पर जहाँ भावना की स्वतन्त्र गति है वहाँ शब्द असमस्त हैं। अंगरेजी की लाक्षणिक पद-योजना की छाया तो कहीं भी मिल सकती है। पंतजी की भाषा में सांकेतिकता भी है। उन्होंने वाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर अपनी प्रतिभा के सहज संयोग से हिन्दी की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता को अत्यन्त समृद्ध और विकसित कर दिया है। सारांश यह है कि उन्हें अपनी भाषा को काव्योचित बनाने के पहले हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल और सुन्दर बनाना पड़ा है। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में जीवन आ गया है। इससे उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो गई है। वस्तुतः उनकी

भाषा में हिन्दी की समस्त शक्तियों का विकास हुआ है। वह भाषा के पंडित और उसके प्रथम सूत्रधार हैं।

—२९—

सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म सं० १९६१ *मृत्यु सं० २००४*

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म सं० १९६१ में नागपंचमी के दिन प्रयाग के निहालपुर मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता ठाकुर रामनाथसिंह जाति के वैश्य क्षत्रिय थे। वह सुशिक्षित और शिक्षा-प्रेमी थे। उनके दो पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। दो बहिनें सुभद्राकुमारी से बड़ी थीं और एक छोटी। उनके एक भाई ठाकुर राजबहादुर सिंह, बी० ए०, एल-एल० बी० मध्यभारत के अजयगढ़ राज्य में सेशन्स जज हैं। उनके दूसरे भाई ठाकुर रामप्रसादसिंह पहले सब-इंस्पेक्टर पुलिस थे, पर असहयोग आन्दोलन के प्रभाव में आकर उन्होंने सरकारी नौकरी से पद त्याग दिया और व्यापार करने लगे।

जीवन-परिचय

सुभद्राकुमारी की प्रारंभिक शिक्षा प्रयाग में ही हुई। सं० १९७६ में उनका विवाह खंडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान, बी० ए०, एल-एल० बी० के साथ हुआ। उस समय वह प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल की छात्रा थीं। विवाह के पश्चात् वह अपने पति की आज्ञानुसार बनारस के थियोसोफिकल स्कूल में अध्ययन करने गईं, परन्तु कलकत्ते की कांग्रेस में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ तब उन्होंने स्कूल छोड़ दिया और उनके पति ने, जो उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे वकालत न करने का निश्चय किया। वकालत

पास करके ठाकुर लक्ष्मणसिंह जबलपुर चले गये और पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साथ 'कर्मवीर' के सम्पादन तथा असहयोग आन्दोलन में योग देने लगे। सुभद्राकुमारी भी अपने पति के साथ जबलपुर चली गईं और राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगीं। राष्ट्रीय झण्डा सत्याग्रह के सम्बन्ध में जबलपुर में जब, सत्रह वर्ष की अवस्था में, पहली बार गिरफ्तार हुईं, तब सरकार ने उन्हें एक दिन पुलिस-हवालात में रखकर छोड़ दिया। इसके बाद दूसरी बार वह नागपुर में गिरफ्तार हुईं। इस बार वह जेल में रखी गईं; पर कुछ दिन बाद बिना मुकदमा चलाये ही वह मुक्त कर दी गईं। आगे के आन्दोलनों में भी वह सक्रिय भाग लेती रहीं और बराबर अपने अदम्य राष्ट्रीय उत्साह का परिचय देती रहीं, जिसके कारण उन्हें पुनः जेल की यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। वह मध्यप्रदेश की असेम्बली की सदस्या भी थीं। उनकी तीन सन्तानें हैं—दो पुत्र और एक पुत्री।

सुभद्राजी अत्यन्त सरल स्वभाव की महिला थीं। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं थी। उनका रहन-सहन बड़ा सादा था। खद्दर से उन्हें विशेष प्रेम था। राष्ट्रीयता उनके जीवन का शृङ्गार थी। आभूषणों से उन्हें घृणा थी। उनके जीवन में माधुर्य और ओज का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ था। प्राचीन क्षत्राणियों की भाँति वह निर्भीक और उदार थीं। कविता की धुन उन्हें बचपन से ही थी। उनके पिता भजन गाने के बड़े प्रेमी थे। वह भक्ति-भावना सम्बन्धी अच्छे-अच्छे भजन गाया करते थे। बाल्यावस्था में सुभद्राकुमारी उनके भजनों को बड़े चाव से सुना करती थीं। भजन इत्यादि सुनकर उनके मनमें भी तरंगें उठती थीं और वह भी उनके साथ गुनगुनाने लगती थीं। बचपन में वह बहुत चपल और नटखट थीं। इसलिए लोग उन्हें भयभीत करने के अभिप्राय से 'गोगा आया, गोगा आया, पकड़ लेगा' इत्यादि कहा करते थे। पर उन्हें कभी 'गोगा' दिखाई नहीं दिया। ठीक इसी प्रकार उनके पिता के भजनों में जिस ईश्वर की

चर्चा रहती थी, उसे भी उन्होंने अपनी आँखों से कभी नहीं देखा। 'गोगा' और ईश्वर में भावुक बालिका सुभद्रा को यह समता दिखाई पड़ी कि लोग उनकी सत्ता तो निश्चित करते हैं, पर दोनों दिखाई नहीं पड़ते। अतः उन्होंने झट यह तुकबन्दी तैयार कर दी :

तुम बिन व्याकुल हैं सब लोगा।
तुम तो हो इस देश के गोगा।

छः-सात वर्ष की बालिका के मुख से यह तुकबन्दी सुनकर लोग उसकी बाल-प्रतिभा पर आश्चर्यचकित हो गये। आगे चलकर शिक्षा के प्रभाव से यह बाल-प्रतिभा और भी विकसित हुई। क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में पढ़ते समय वह वार्षिकोत्सव आदि के अवसरों पर स्वरचित कविताएँ अवश्य पढ़ती थीं। उन्हीं दिनों सामयिक पत्रों में भी उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगी थीं।

जब से वह राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देने लगीं, तब से उनकी देश-भक्ति का रंग और भी गहरा और व्यापक हो गया। पं० माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आने पर उनकी काव्य-प्रतिभा का जो योग मिला उसने उन्हें हिन्दी साहित्य में अमर कर दिया। १२ फरवरी सन् १९४८ ई० को मोटर दुर्घटना से उनका देहान्त हो गया।

सुभद्राजी कवयित्री और कहानी-लेखिका दोनों ही थीं। कविता और कहानी दोनों ही पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सेकसरिया-पारितोषिक का सम्मान वह प्राप्त कर चुकी थीं।

सुभद्राजी की रचनाएँ

सुविधा की दृष्टि से हम उनके समस्त साहित्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. कविता, २. कहानी और ३. शिशु साहित्य। उनकी रचनाएँ हैं—मुकुल, बिखरे मोती, उन्मादिनी, त्रिधारा, सभा के खेल, और सीधे-सादे चित्र। इनमें से 'मुकुल' उनकी ३९ कविताओं का संग्रह है। इसी कविता पुस्तक पर उन्हें पुरस्कार मिला है। 'त्रिधारा'

पं० माखनलाल चतुर्वेदी और पं० केशवप्रसाद पाठक की कविताओं के साथ उनकी रचनाओं का संकलन है। 'सभा का खेल' उनकी बालोपयोगी कविताओं का संग्रह है। सीधे-सादे चित्र में उनकी नवीनतम कहानियाँ संगृहीत हैं।

सुभद्राजी आधुनिक कविता के विकास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। महिलाओं में महादेवी के पश्चात् उन्हीं का स्थान है। उन्हीं के आविर्भाव ने हमारी देवियों को इतना मंत्र-मुग्ध कर दिया कि वे रस-विभोर हो उठीं और स्वयं कविता करने का प्रयास करने लगीं। देवियों को ही नहीं अनेक नवयुवकों को भी उनसे काव्य-प्रेरणा मिली। इधर तो उनका अपना एक स्कूल ही हो गया था जिसका वह सम्मान-पूर्वक प्रतिनिधित्व कर रही थीं।

सुभद्राजी की काव्य-साधना

'मुकुल' सुभद्राजी की प्रथम कविता-पुस्तक है। इसमें वीर, वात्सल्य और शृंगार रसों की प्रधानता है। हम इन कविताओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) देश-भक्ति प्रधान, (२) मातृत्व-प्रधान और (३) प्रणय-प्रधान। उनकी देश-भक्तिपूर्ण कविताओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहली वे जिनमें ओजपूर्ण भाषा में भारत माता के गीत गाये हैं और दूसरी वे जिनमें उद्बोधक की सामग्री एकत्र की गयी है। 'झाँसी की रानी' उनकी अमर कला-कृति है। वास्तव में इस कविता द्वारा उनकी जितनी ख्याति हुई है, उतनी अन्य किसी कवि को नसीब नहीं हुई। उनकी यह रचना हिन्दी का प्राण है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में नवीन सन्देश, नवीन स्फूर्ति और नवीन उत्साह है। वीर रस इसके प्रत्येक शब्द से छलका पड़ता है। वीरोचित नारी-जीवन का जैसा सुन्दर चित्र इस कविता में उतारा गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें पद-विन्यास तथा भाव-प्रभाव दोनों ही, सरिता और समीर की भाँति एक हो गये हैं; दोनों ही एक दूसरे को गति और संगीत प्रदान करते हैं। 'खूब

लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' में जो तड़पन, विचारों को मथने की अद्भुत शक्ति है, वह उनकी किसी भी रचना में नहीं है। 'झाँसी की रानी' के बाद 'वीरों का कैसा हो वसन्त', 'जलियाँवाले बाग में वसन्त' आदि उनकी अत्यन्त लोक-प्रिय रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में वीर-भाव के साथ भावुकता इस प्रकार भर दी गई है कि इनका मूल्य वस्तुतः देश के मूल्य के बराबर हो गया है। 'वीरों का कैसा हो वसंत' की ये पंक्तियाँ देखिए:—

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझमें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

राष्ट्रीय पद्यों के अतिरिक्त श्रीमती सुभद्राकुमारी की वात्सल्य-संबन्धी कुछ कविताएँ भी अपनी स्वाभाविकता में अप्रतिम हैं। ऐसी कविताओं में उनका मातृ-हृदय उबल पड़ा है। वस्तुतः नारी-हृदय मातृत्व को पाकर ही गौरवान्वित होता है। सुभद्राजी पूर्ण माता हैं। वह अपनी राष्ट्रीय रचनाओं से अधिक इस दिशा में सफल हुई हैं। वस्तुतः उनका मातृ-हृदय कविता में बोल उठा है:—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन-सी फूल उठी यह छोटी-सी कुटिया मेरी॥

उन्होंने अपनी ऐसी रचनाओं में अपने जीवन की सारी मधुरता निचोड़ दी है। उनके शब्दों में इन पंक्तियों का माधुर्य तो वही अनुभव कर सकता है जिसने मातृ-हृदय पाया हो। 'बालिका का परिचय' शीर्षक कविता में वह कहती हैं :—

मेरा मन्दिर मेरी मसजजिद काबा-काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप है घट-घट वासी यह मेरी॥

× × ×

परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका ?
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका।

'इसका रोना' भी मातृ-हृदय की भावुकता से परिपूर्ण एक सुन्दर रचना है। मातृ-हृदय का गर्व उनकी इन रचनाओं में इतना सजीव और साकार हो गया है कि उसके सामने पुरुषों का थोथा अभिमान व्यर्थ हो जाता है। बालकों का रोना सुनकर पुरुष चिढ़ जाते हैं, पर माताओं का हृदय अभिमान से भर जाता है। इस भाव का निर्वाह इन पंक्तियों में देखिए :—

तुमको सुनकर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान॥

वात्सल्य-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त सुभद्राजी की प्रणय-सम्बन्धी रचनाएँ भी हिन्दी-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में उनका दाम्पत्य-भाव फूट पड़ा है, पर उनमें सर्वत्र संयम है। 'चलते समय' शीर्षक कविता में उनके नारी-हृदय की व्यंजना का अनुमान इन पंक्तियों से लगाइए :—

मैं सदा रूठती ही आयी, प्रिय! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण-सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय और वात्सल्य भावनाओं के समान ही प्रणय में भी उनकी अनुभूति कुछ कम गहरी नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी कुछ पंक्तियाँ तो अद्वितीय हैं। इसी बात को डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दों में यदि कहें तो यों कह सकते हैं कि वह 'साधारण घटनाओं में भी जीवन का सौन्दर्य देखती हैं।' उनकी प्रेम की चुटकियाँ बड़ी ही मार्मिक, मधुर और हृदयग्राही होती हैं :—

बहुत दिनों तक हुई परीक्षा, अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी बोल तो लिया करो तुम, चाहे मुझ पर प्यार न हो।

× × ×

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।

दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो।
मैं उन्मत्त प्रेम की प्यासी, हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ।
चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी है, ठुकरा दो या प्यार करो।

सुभद्राजी की कतिपय प्रारंभिक रचनाएँ प्रौढ़ नहीं हैं, पर उनमें जीवन का हास-विलास अपने प्रकृत रूप में चित्रित हुआ है। वह दीन-दुखियों के सुख-दुःख से भी द्रवीभूत हुई हैं। इस प्रकार एक ओर उनकी दृष्टि में जहाँ प्रणय का मधु और वात्सल्य का अमृत है, वहाँ दूसरी ओर उसमें राष्ट्र के लिए प्राणोत्सर्ग करने की प्रकृत कामना और दीन, दलित तथा शोषित जनता के प्रति अटूट आकर्षण भी है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी कविताएँ दैनिक जीवन को सामने रखकर लिखी हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि वस्तु-जगत् से बाहर जाने में असमर्थ रही है। जीवन के स्थूल आधार पर ही उन्होंने अपने भाव-चित्र सजाये, सँवारे और पूर्ण किये हैं। उनमें न तो कल्पना की ऊँची उड़ान है और न भावों का संघर्षमय वातावरण। उनके भाव इतने सीधे और सरल होते हैं कि साधारण से साधारण लोग उन्हें सुनकर आत्मविभोर हो जाते हैं। उनकी कविता में अद्भुत मादकता, सौन्दर्य आकर्षण और हृदय की विविध परिस्थितियों की मनोहर झाँकी है। उनकी कृत्तियों में कल्पना की अपेक्षा जीवन की ही सहज-सरल अनुभूति की सरसता और प्रवाह है। जीवन और साहित्य का ऐसा संतुलित सामञ्जस्य इस युग में अन्यत्र नहीं मिलता।

सुभद्राजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानियाँ भी उनकी कविताओं की भाँति सरस और जीवनपरक होती हैं। 'सीधे-सादे चित्र', 'बिखरे मोती' तथा 'उन्मादिनी' उनकी तीन कहानी-संग्रह हैं। इन कहानी-संग्रहों में उनका स्वदेश-प्रेम, दाम्पत्य-प्रेम तथा वात्सल्य उनकी नारी-शक्ति से मिलकर बहुत ही भावपूर्ण हो उठा है। उनकी

कई कहानियाँ हिन्दी की अत्यन्त उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

सुभद्राजी की भाषा खड़ीबोली है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का समावेश बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। उसमें इतनी सरलता है कि पाठक को कहीं भी अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती। सुभद्राजी व्यावहारिक भाषा में अपने विचार व्यक्त करती थीं। उसमें प्रयास, कृत्रिमता और प्रयत्न की मात्रा नहीं थी। भावों के अनुरूप ही उनकी भाषा होती थी। ओज, प्रसाद और माधुर्य से उनकी भाषा में एक अनोखा चमत्कार आ गया था। कहीं-कहीं उसमें उर्दू भाषा का मेल भी पाया जाता है; पर ऐसे शब्दों के समावेश से उनकी भाषा का प्रवाह कम नहीं हुआ है। उन्होंने विदेशी शब्दों को बड़े कौशल से प्रयुक्त किया है। और हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में से चलते हुए शब्दों का चयन किया है।

सुभद्राजी की भाषा और शैली

सुभद्राजी की भाषा में दूसरी विशेषता है उसकी अलंकार-हीनता। नारी-जागरण के इस युग में जिस प्रकार महिलाओं ने आभूषणों को ठुकरा दिया है उसी प्रकार सुभद्राजी की भाषा सादी, सरल और अपने प्रकृत रूप में है। वह अपने सहज सौन्दर्य में ही पूर्णतया को पहुँची हैं।

सुभद्राजी की शैली में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। उनकी कोई अपनी विशेष शैली नहीं है। छन्दों के चयन में वह व्यावहारिकतावादी हैं। उन्होंने आजकल के सीधे-सादे छन्दों को ही अपनाया है और उनमें अपने सरल भावों को व्यक्त किया है। इसलिए उनकी शैली अत्यन्त सरल और सुबोध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुभद्राजी का हिन्दी के वर्तमान कवियों तथा कवयित्रियों में एक विशिष्ट स्थान है। वह हिन्दी की लोक-प्रिय कवयित्री हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अब वह भौतिक रूप से इस संसार में नहीं हैं, पर अपनी साहित्यिक रचनाओं में वह अमर हैं।

—३०—

रामकुमार वर्मा

जन्म सं० १९६२

डाक्टर रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य-प्रदेश के सागर जिले में सं० १९६२ में हुआ था। उनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसादजी डिप्टी कलेक्टर थे। इसलिए सरकारी नौकरी करते समय उन्हें कई स्थानों में रहना पड़ा। ऐसी दशा में वर्माजी की प्रारंभिक शिक्षा भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई। रायटेक तथा नागपुर के मराठी स्कूल में उन्होंने मराठी भाषा की शिक्षा में अपने चार वर्ष व्यतीत किये। हिन्दी की शिक्षा उनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने उन्हें घर पर ही दी। वह तुलसी और मीरा के पद बड़े प्रेम से गाया करती थीं और प्रभात वेला में उन्हें जगाने के लिए 'भोर भयो जागहु रघुनन्दन' का स्वर छेड़ती थीं। कविता के प्रति उनका जन्मजात प्रेम था और वह अपने अवकाश के क्षणों में कभी-कभी कविता भी किया करती थीं। उन्हीं की स्वर-लहरी में वर्माजी को कविता का स्पन्दन मिला और उन्हीं के स्नेहांचल में उन्हें कविता का वरदान मिला।

जीवन-परिचय

वर्माजी बड़े भावुक और अध्ययनशील विद्यार्थी थे। जब वह आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तब उनके गुरु श्री विशंभरप्रसादजी गौतम विशारद 'विद्यार्थी' में अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते थे। उस समय उन कविताओं की प्रतिलिपि करने का अवसर वर्माजी को मिलता था। प्रतिलिपि करते समय उन कविताओं को वह गा-गाकर पढ़ा करते थे। उनके बड़े भाई श्री रघुवीरप्रसाद भी कविता करते थे। अतः इस वातावरण का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा और उनके हृदय में कविता करने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। उनकी इस प्रवृत्ति को हिन्दी-साहित्य

के प्रमुख कवियों की रचनाओं के अध्ययन से पर्याप्त बल मिला। तुलसी उनके अत्यन्त प्रिय कवि थे। हिन्दी-काव्य के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग देखकर उनकी माता उन्हें निश्चित काल के भीतर कोई साहित्यिक ग्रन्थ समाप्त कर लेने पर पुरस्कार दिया करती थीं। इससे उनका उत्साह बराबर बढ़ता गया। फलतः सन् १९२० ई० में उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा-परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। तब से हिन्दी-साहित्य उनके अध्ययन का मुख्य विषय बन गया।

सन् १९२१ के राष्ट्रीय आन्दोलन में वर्माजी ने स्कूल छोड़ दिया। उस समय वह एंट्रेंस में पढ़ते थे। उनके पिताजी ने उन्हें बहुत समझाया, पर वह अपने व्रत पर अटल रहे। उस समय उन्होंने कई कविताएँ लिखीं। सन् १९२२ ई० में 'देश-सेवा' शीर्षक कविता पर उन्हें ५१) का 'खन्ना-पुरस्कार, मिला। इस सफलता पर उनकी माता ने भी उन्हें ५१) देकर उनका उत्साह बढ़ाया। सन् १९२३ ई० में उन्होंने पुनः स्कूल में पढ़ना आरंभ किया और उसी वर्ष एंट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके बाद वह जबलपुर के रॉबर्टसन कालेज में प्रविष्ट हुए। इस कालेज से सन् १९२५ ई० में उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा पास की और फिर प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे। इस विश्वविद्यालय से सन् १९२७ ई० में उन्होंने बी० ए० और सन् १९२९ ई० में एम० ए० पास किया। एम० ए० की परीक्षा में वह हिन्दी लेकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उस समय प्रयाग-विश्वविद्यालय में एक हिन्दी लेक्चरर की आवश्यकता थी। अतः वह उसी पद पर नियुक्त हो गये। अधिक काल तक इस पद पर सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् वह फिर जबलपुर चले गये। इस समय वह मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर हैं। नागपुर विश्वविद्यालय से उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि भी मिली है।

वर्माजी बड़े कुशल साहित्यकार हैं। उनके जीवन का प्रत्येक

अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त वह पाश्चात्य रहस्यवाद से भी प्रभावित हैं। इस प्रकार पूर्वात्य तथा पाश्चात्य रहस्यमयी भावनाओं के सुन्दर संमिश्रण से उनकी अनुभूतियों का विकास हुआ है। उनके रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तादात्म्य होने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता का ज्ञान बना रहता है। इसीलिए उनकी रहस्यवादी रचनाओं में आनन्द की सत्ता अन्त तक बनी रहती है।

वर्माजी के काव्य की दो शैलियाँ हैं—वर्णात्मक और मुक्तक। उनकी वर्णात्मक रचनाएँ इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। ऐसी रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे जो वर्णात्मक होते हुए कल्पना-प्रधान हैं; दूसरी वे जो वर्णात्मक होते हुए अनुभूति-प्रधान हैं। 'रूपराशि' 'शुजा' तथा 'नूरजहाँ' की कविताएँ पहले प्रकार की हैं और 'निशीथ' दूसरे प्रकार की कविता है। यह उनकी वर्णात्मक रचनाओं में श्रेष्ठतम है। इसमें निराशा, प्रेम, वेदना और करुणा का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य हुआ है। इसकी गणना हिन्दी के उत्तम खंड-काव्यों में की जाती है।

वर्माजी के काव्य का दूसरा पहलू गीति अथवा मुक्तक है। इसमें कल्पना और भाव से युक्त अनुभूतिपूर्ण कविता की प्रधानता है। ऐसी रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं। एक तो वे जिनमें प्रकृति के रूप-सौंदर्य से उद्दीप्त असार संसार की क्षणभंगुरता में करुणा और निराशा की भावनाओं का चित्रण हुआ है और दूसरी वे जिनमें अज्ञात के चिन्तन और रहस्यानुभूति में आत्मानन्द की भावनाएँ चित्रित हुई हैं। उनकी ऐसी दोनों प्रकार की रचनाएँ अत्यन्त सफल हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति एक लालसामय आस्था है, उसके दर्शन के लिए आँखों में अमर प्यास है और उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के लिए हृदय में चिर स्थान है। इसका एक कारण है और वह यह कि उनके जीवन का प्रभात काल बुन्देलखंड के पार्वतीय प्रान्तों के बीच में बीता है। इसलिए प्रकृति के प्रति उनके हृदय में स्वाभाविक अनुराग है। यही

अनुराग उनकी रहस्य-भावना का भी आधार बन गया है। फलतः हम उनकी रचनाओं में प्रकृति के वास्तविक रूप-चित्रण का अभाव पाते हैं। प्रकृति के रूप की व्यंजना करते समय वह रहस्य के चिन्तन में पड़ जाते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में प्रकृति गौण और रहस्यमयी भावना प्रधान हो जाती है।

वर्माजी के गीत भावपूर्ण, संक्षिप्त और संगीतमय होते हैं। तन्मयता, आत्मसमर्पण और आत्माभिव्यक्ति उनके गीतों में पद-पद पर मिलती हैं। उनके गीत प्रायः अनुभूति-प्रधान होते हैं। कल्पना का भी पुट रहता है, पर कम। इसलिए उनमें एक विशेष प्रकार की तन्मयता पाई जाती है। भावों की अभिनयात्मक व्यंजना से उनके गीत और भी मनोहर हो गये हैं। जीवन की करुण अभिव्यक्ति की ओर उनका झुकाव अधिक है। उनकी कृतियों में शृंगार रस भी है, पर वह प्रायः करुण रस का एक माध्यम-सा है। उनका शृंगार मधुर-मधुर नहीं, अपितु अश्रु-सजल है। करुण रस में ही उनके हृदय ने विश्राम पाया है। उनका शृंगार मानवी शोभा-विलास के रूप में नहीं, अपितु सौंदर्य के प्रकृति-चित्र में सरस बन पड़ा है। प्रकृति से जीवन का रस ग्रहण करने में वह एक छायावादी हैं। जीवन की नश्वरता से आत्मशान्ति का भाव खोजने में वह रहस्यवादी हैं।

वर्माजी कवि ही नहीं, नाटककार भी हैं। उन्होंने कई एकांकी नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों में अभिनयशीलता, सरलता तथा सुस्पष्टता प्रधान रहती है। दैनिक जीवन के भावनात्मक उत्थान-पतन उनके नाटकों के विषय रहते हैं। इधर वह ऐतिहासिक नाटकों की ओर अधिक झुके हैं। इन नाटकों में उन्हें सफलता भी मिली है। नाटककार के साथ-साथ वह आलोचक भी हैं। उनके आलोचना-साहित्य का हिन्दी में विशिष्ट स्थान है। गद्य के इन दोनों रूपों ने उनके कवि को सम्प्रति दबा-सा दिया है। इधर आलोचना और नाटक की ओर ही उनकी विशेष रुचि है। उनके कुछ निबन्धों का एक संग्रह भी अभी

हाल में प्रकाश में आया है। इस प्रकार वर्माजी वर्तमान युग के एक सफल कवि, नाटककार, आलोचक और निबन्ध-लेखक हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है।

वर्माजी की भाषा खड़ीबोली है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है, पर वह क्लिष्ट नहीं है। उसमें प्रसाद गुण का आधिक्य है।

वर्माजी की भाषा और शैली

उसकी शब्दावली भावों के तद्रूप मृदुल और मधुर होती है। वर्माजी कोमल भाषा के धनी हैं। रहस्यवादी होने के कारण वह अपनी भाषा को लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग से दुरूह बनाने की चेष्टा नहीं करते। उनकी भाषा संस्कृत की कोमल कान्त पदावली से संयुक्त होती हुई भी दुरूह नहीं है। इसका कारण यह है कि उनकी अनुभूति सच्ची है और भावनाएँ स्थिर हैं। इसलिए इन भावनाओं का वाह्याच्छादन भी स्थिर और व्यवस्थित रहता है। संक्षेप में यही उनकी भाषा की विशेषता है।

वर्माजी की शैली प्रवाहपूर्ण है। काव्य में उनकी दो शैलियाँ हैं—इतिवृत्तामक और गीतात्मक। इसी प्रकार गद्य में भी उनकी शैली दो प्रकार की है। नाटकों में उन्होंने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है और निबन्धों में आलोचनात्मक शैली का। इन शैलियों के प्रयोग में उन्होंने अपनी भाषा का विशेष रूप से निर्माण किया है। उनके काव्य की भाषा में कहीं-कहीं अलंकारों की भाँति उनके शब्द भी परम्परा की पूर्ति करते हैं। सुसमीर, सुराग, सुप्रवाह, सुपवन जैसे प्रयोग इस बात के सूचक हैं। उनकी भाषा गणितमय है जिसके द्वारा भावों को युक्तियुक्त बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है। उनकी कविताओं में अभिनयात्मक व्यंजना बहुत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्माजी हिन्दी के एक प्रमुख कवि और कलाकार हैं। उनकी रचनाएँ प्रौढ़ और मार्मिक होती हैं। इसलिए हिन्दी में उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है।

—३१—

महादेवी वर्मा

जन्म सं १९६४

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ वि० में फरुखाबाद में हुआ था। उनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा एम० ए०, एल्-एल० बी० भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी भी हिन्दी की विदुषी और भक्त थीं। कभी-कभी वह कविता भी किया करती थीं। महादेवी के नाना भी व्रजभाषा के कवि थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनका जन्म एक विद्वान् और भक्त-परिवार में हुआ था। उनके एक भाई श्री जगमोहन वर्मा एम० ए०, एल्-एल० बी० तथा दूसरे श्री मनमोहन वर्मा एम० ए० हैं। उनके एक बहिन भी है। वह भी शिक्षित और विदुषी हैं।

जीवन-परिचय

महादेवी की प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्होंने छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर चित्रण-कला और संगीत की शिक्षा भी उन्हें दी गई। तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य उन्होंने अपनी माता से ही पढ़ा। वह बचपन से ही साहित्य-प्रेमी और भावुक थीं। सं० १९७३ में उनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वशुर लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। अब तक उनकी शिक्षा पिता और माता के आग्रह के कारण ही हुई थी। इसलिए श्वशुर के देहान्त के पश्चात् वह पुनः शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुईं। सं० १९७७ में उन्होंने प्रयाग से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा पास की। युक्त-प्रान्त के विद्यार्थियों में उनका स्थान भी सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८१ में उन्होंने एंट्रेंस की

परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास की और पुनः संयुक्तप्रान्त में उन्हें सर्वप्रथम स्थान मिला। इस बार भी उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १६८३ में उन्होंने इंटरमीडिएट और सं० १६८५ में बी० ए० की परीक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज से पास की। अन्त में उन्होंने संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा पास की। इस प्रकार उनका विद्यार्थी-जीवन आदि से अन्त तक बहुत सफल रहा। बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलिए उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययन की छाप उन पर अब तक बनी हुई है।

विद्यार्थी-जीवन की भाँति महादेवी की साहित्य-साधना भी अत्यन्त सफल रही। बाल्यावस्था से ही कविता करने की ओर उनका आकर्षण रहा है। बड़ी होने पर वह अपनी माता के पदों में अपनी ओर से कुछ कड़ियाँ जोड़ दिया करती थीं। स्वतंत्र रूप से भी वह तुकबंदियाँ करती थीं, पर उन्हें पढ़कर वह प्रायः फेंक दिया करती थीं, वह अपनी तुकबंदियाँ किसी को दिखाना पसन्द नहीं करती थीं, कविता लिखकर उसे नष्ट कर देने में ही उन्हें सन्तोष मिलता था। पर ज्यों-ज्यों उनकी शिक्षा उन्नत होती गई, त्यों-त्यों उनकी कविता में भी प्रौढ़ता आती गई। यह देखकर उन्होंने अपनी रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होने के लिए भेजीं। हिन्दी-संसार में उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। इससे महादेवी को अधिक प्रोत्साहन मिला और वह काव्य-साधना की ओर अग्रसर हो गईं। आज वह हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री समझी जाती हैं।

महादेवी का अब तक का जीवन शिक्षा-विभाग में ही व्यतीत हुआ है। एम० ए० पास करने के पश्चात् वह प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुईं और अब भी वह उसी पद की शोभा बढ़ा रही हैं। उनके सतत् उद्योग से उक्त विद्यापीठ ने उत्तरोत्तर उन्नति की है। वह 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी हैं। इधर कुछ दिन हुए, उन्होंने 'साहित्य संसद' नाम की एक संस्था स्थापित की है। इस

संस्था द्वारा वह हिन्दी-लेखकों की सहायता करना चाहती हैं। 'नीरजा' पर उन्हें ५००) का सेक्सरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी उन्हें मिल चुका है। ५००) का सेक्सरिया पुरस्कार उन्होंने महिला विद्यापीठ को दान कर दिया, इससे उनकी उदारता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बड़ा सम्मान है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. गद्य और २. पद्य। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का वर्तमान हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

महादेवी की रचनाएँ

१. कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। यामा में नीहार, रश्मि और नीरजा की कविताओं का संग्रह है।

२. निबन्ध—अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ।

३. आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य।

महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी काव्य-साधना का श्रीगणेश उस समय से होता है जब उन्होंने अपनी माता के मुख से मीराँ आदि की भक्ति-भावना-सम्पन्न गीतों को सुनकर मन में गुनगुनाना आरम्भ किया था। वह उनके काव्य-जीवन का ऊपःकाल था। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों शिक्षा एवं अध्ययन से उनका मानसिक क्षितिज विकसित होता गया त्यों-त्यों मीराँ की वेदना उनके हृदय में घर करती गई। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करती थीं, पर जब मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा खड़ीबोली की रचनाओं से उनका परिचय हुआ तब वह भी खड़ीबोली में पद्य-रचना करने लगीं। इस प्रकार सर्वप्रथम उन्होंने 'चाँद' द्वारा हिन्दी-संसार को अपना परिचय दिया। तब से अब तक वह बराबर अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भर रही हैं। उनकी रचनाएँ

महादेवी की काव्य-साधना

यद्यपि संख्या में कम हैं तथापि उनमें उनके हृदय के भावों का सागर मौजें मारता हुआ दिखाई देता है। वह अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी काव्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग का नेतृत्व कर रही हैं। उनकी प्रत्येक रचना उनकी अनुभूतियों का दर्पण बनकर हमारे सामने आती है और हम उसके द्वारा उनके विकास-सूत्र को ग्रहण कर सकते हैं।

हिन्दी के आधुनिक युग में महादेवी स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं। अपने गीतों में वह वेदना की प्रधान उपासिका के रूप में प्रकट हुई हैं। उन्होंने प्रेमाख्यानक कवियों के भावात्मक रहस्यवाद को मधुर भाव के साथ अपनाया है। 'स्थूल' को छोड़कर 'सूक्ष्म' की ओर वह प्रवृत्त हुई हैं पर उनका 'सूक्ष्म' जीवन का वह सूक्ष्म है जिसमें सम्वेदनशील जीवन का दिव्य सत्य निहित है। स्थूल जगत् की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता को खोजनेवाली आत्मा सदैव विरहित रही है। इसी से हम उन्हें दुःखवादी दर्शन में निमज्जित पाते हैं।

महादेवी का प्रियतम 'अलबेला' है। प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त से छवि, सौंदर्य और अमृत लाकर वह उसका शृंगार करती हैं। वह प्रकृति के विविध रूपों और व्यापारों में उनकी झलक भी पाती है और उससे चिरमिलन के लिए उत्कण्ठित होती हैं। उनकी उत्कण्ठा ही उनके काव्य का पाथेय बन गई है। उनका विरह और मिलन, उनका आह्वान और प्रत्याख्यान, उनका औत्सुक्य और नैराश्य लोकोत्तर होने के साथ पवित्र भावना-प्रसूत है। उसमें कहीं भी कालुष्य, वासनासिक्त प्रेम और दुर्गन्धयुक्त अनुरक्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में मायावी जगत् की विषमताओं एवं द्वन्द्वों का वह चित्र भी नहीं है जो सन्तों की परम्परा में हमें मिलता है। उनके प्रत्येक स्वर से चिरंतन विरह का भाव ही निनादित होता हुआ हमें सुनाई पड़ता है। इस वियोग में उन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। कहीं-कहीं चिरमिलन का भाव भी है। उनकी प्रेम-साधना व्यक्तित्व के सहारे उठकर प्रकृति के अंग में समाप्त हो गई

है। इसलिए लोकपक्ष का उनमें अभाव है। उनमें संत-वाणियों का-सा अमर स्वर है, पर वैसी तीव्र अनुभूति नहीं। वेदना उनके लिए एक गम्भीर चेतनता है। जीव, प्रकृति, जड़-चेतन सबको वह अपनी वेदना से ओत-प्रोत किये हुए हैं। प्रकृति भी अपने प्रियतम के वियोग में उतनी ही दुखी है जितनी कि वह स्वयं। उन्हें अपनी वेदना का गौरव है। वह उसे त्यागना पसन्द नहीं करतीं। उनकी रचनाओं में व्यथा की आर्द्रता है जिस पर बौद्ध दर्शन के दुःखवाद की स्पष्ट छाया पड़ी हुई जान पड़ती है।

प्रकृति के प्रति महादेवी की पूरी सहानुभूति है। उनकी रचनाओं में प्रकृति के चित्र कोमल-स्निग्ध रूपकों से छायावाद की व्यंजना-प्रधान शैली में मार्मिकता के साथ अंकित हुए हैं। उनके प्रकृति-चित्र बड़े अनूठे और रहस्यवादी होते हैं। उनका रहस्यवाद अपनी विशेषता से परिपूर्ण है।

महादेवी की भाषा और शैली

महादेवी की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली है। वह ब्रजभाषा से भी भलीभाँति परिचित हैं। आरंभ में उन्होंने ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया था, पर जब खड़ीबोली से उनका परिचय हुआ तब उन्होंने उसे ही अपना लिया। इस प्रकार वह ब्रजभाषा के क्षेत्र से निकलकर खड़ीबोली के क्षेत्र में आ गईं। यह द्विवेदी-युग के प्रथम चरण की बात है। उस समय द्विवेदीजी, गुप्तजी, हरिऔधजी आदि खड़ीबोली को काव्योचित भाषा बनाने के लिए उसे खराद पर चढ़ा रहे थे। उन्हें इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली। कालान्तर में जब प्रसाद, निराला और पंत का हिन्दी में प्रवेश हुआ तब खड़ीबोली और भी माँजी गई। प्रसाद ने उसे प्राञ्जलता दी, निराला ने उसका स्वर और ताल ठीक किया, पंत ने उसे मधुरिमा और कोमलता दी। खड़ीबोली जब अपने इतने गुण लेकर महादेवी के पास आई तब उन्होंने उसे अपने हृदय की सारी वेदना देकर

स्पंदित कर दिया; उसमें जान डाल दी। इस प्रकार खड़ीबोली को काव्योचित भाषा बनाने में उनका योग अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। आज उनकी भाषा काव्य के लिए आदर्श भाषा बन गई है।

महादेवी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त कोमल है। उसमें कहीं भी कर्कशता और शुष्कता नहीं है। उनकी भाषा में जैसी मसृणता है वैसी खड़ीबोली के अन्य कवियों में मिलना दुर्लभ है। उनका अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। प्रवाह तो उसमें इतना है कि वह अपने पथ की बाधाओं को काटती-छाँटती चलती है। 'प्रसाद' की भाषा में वचन की गड़वड़ी है, पंत की भाषा में लिंग सम्बन्धी-विचित्र प्रयोग हैं, निराला की भाषा में समस्त पदों की भरमार है, पर महादेवी की भाषा ऐसी त्रुटियों से मुक्त है। इतना होते हुए भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप-परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य हो गया है। बतास, अधार, अभिलाषें, कर्णधार आदि ऐसे ही शब्द हैं। उन्होंने ऐसे शब्दों को भी अपनी खड़ीबोली में स्थान दिया है जो अधिक काल से अपनी कोमलता के कारण कविताओं में स्थान पाते आ रहे हैं। नैन, बयार, बैन आदि इस प्रकार के शब्दों के उदाहरण हैं। 'वह' का प्रयोग वह एक वचन और बहुवचन दोनों में समान रूप से करती हैं। उनकी त्रुटियाँ क्षम्य हैं, क्योंकि उनके कारण उनकी भाषा के प्रवाह में कोई बाधा नहीं पड़ती। संक्षेप में उनकी भाषा भाव-प्रवण, सरल, संगीतमय, प्रसाद-गुणयुक्त, प्रवाहपूर्ण, मधुर और कोमल है। उनकी कविताओं में यत्र-तत्र उर्दू भाषा के भी शब्द मिलते है जो संभवतः किसी प्रयोजनवश ही लाये गये हैं। उनके शब्द छोटे और भावपूर्ण होते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर होता है।

महादेवी की शैली विकासोन्मुख रही है। 'नीहार' में उनकी शैली अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसमें भाव कम हैं और शब्दों

की अधिकता है। 'नीरजा' में उनकी शैली भाव और भाषा में समता एवं मित्रता स्थापित कर सकी है। 'दीपशिखा' में उनकी शैली प्रौढ़ हो गई है। इसमें वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह गई हैं। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग वह बड़ी सावधानी और सुन्दरता से करती हैं। उनकी शैली में अमूर्त्त वस्तुओं के लिए मूर्त्त योजनाएँ बहुत मिलती हैं। भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण में वह पटु हैं। उनकी शैली में प्रभात हँसता है, आहें सोती हैं, किरणें मचलती हैं, इच्छाएँ सिहरती हैं और शून्य गायन करता है। आज की कविता शब्दों का सामान्य अर्थ लेकर नहीं चलती। वह प्रतीकों, समासोक्तियों और लाक्षणिक तथा व्यंजक प्रयोगों के बल पर चलती है। इसलिए पाठक को उसे समझने के लिए थोड़ा मानसिक श्रम करना पड़ता है। महादेवी की शैली भी इसी प्रकार की है। वह अपने काव्य में अत्यधिक सांकेतिक हैं। महादेवी अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। उनके परिचित प्रतीक सरलता से समझ में आ जाते हैं, पर कुछ ऐसे प्रतीक जो अभी प्रचुरता से आधुनिक काव्य के माध्यम नहीं बने हैं, अर्थ-बोधकता में बाधा डालते हैं। ऐसे अपरिचित प्रयोगों के कारण ही महादेवी कहीं-कहीं दुरूह और जटिल हो गई हैं। उनके प्रतीकों में तारे लौकिक भावों के रूप में, दीपक आत्मा के रूप में, सागर संसार के रूप में और तरी जीवन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इच्छाओं के लिए कहीं मकरन्द, कहीं सौरभ और कहीं इन्द्र-धनुष के विविध रंगों से काम लिया गया है। अतः इन प्रतीकों द्वारा ही हम महादेवी की रचनाओं का अर्थ समझ सकते हैं।

—३२—

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन्म सं० १९६५

श्री रामधारीसिंह अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा हिन्दी जगत् में अपने 'दिनकर' उपनाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सं० १९६५ में विहार के मुँगेर ज़िला के अन्तर्गत सिमरिया ग्राम में हुआ था। यह वह स्थान है जहाँ गंगाजी की वह धारा फिर आकर मिली है जो मैथिल कोकिल विद्यापति की मृत्यु के समय उनके पास गई बताई जाती है।

जीवन-परिचय

दिनकरजी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के पाठशाला में ही हुई। वहाँ से मिडिल पास करने के पश्चात् उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ना आरंभ किया और सन् १९३२ ई० में पटना-विश्वविद्यालय से इतिहास लेकर 'आनर्स' के साथ बी० ए० पास किया। काव्य रचना की ओर आरंभ से ही उनकी रुचि थी। मिडिल पास करने के पश्चात ही उन्होंने 'वीर बाला' शीर्षक से एक काव्य लिखना आरंभ किया, पर उसे बीच ही में छोड़कर उन्होंने रामायण की कथाओं के आधार पर एक दूसरा काव्य लिखा। बचपन से ही प्रबन्ध काव्य की ओर उनकी विशेष रुचि थी।

मैट्रीकुलेशन पास करने के पश्चात् उनका एक काव्य 'प्रण-भंग' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके बाद उनके गीतों का एक संग्रह रेणुका नाम से निकला। काव्य-रसिक जनता ने रेणुका का अच्छा स्वागत किया। उनकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'हुंकार' नाम से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ।

सन् १९३५ ई० में दिनकरजी विहार प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के १३वें अधिवेशन के कवि-सम्मेलन के अवसर पर उनके सभापति चुने गये। उनकी 'हिमालय' शीर्षक कविता पर बनैली के कुमार कृष्णसिंह ने उनको एक स्वर्ण पदक दिया। उनकी एक दूसरी कविता 'नई दिल्ली'

भी बहुत पसन्द की गयी। 'हिमालय' और 'नई दिल्ली' दोनों का गुजराती भाषा में गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि मेघाणीजी ने अनुवाद किया। यह उनकी लोक-प्रियता का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

दिनकरजी को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष प्रेम है। उनकी रचनाओं पर इन विषयों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वह हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, संस्कृत और बंगला के भी अच्छे ज्ञाता हैं। इन भाषाओं के काव्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। हिन्दी के वह अध्ययन-शील कवि हैं।

दिनकरजी हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। उनकी रचनाओं का हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी जीवनी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें काव्य-रचना का प्रादुर्भाव विद्यार्थी-जीवन से ही हो गया था। अतः ज्यों-ज्यों उनके विचारों तथा भावों में प्रौढ़ता आती गई त्यों-त्यों उनकी रचना शक्तिशाली, प्रखर और परिपक्व होती गई। इस समय तक की उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

दिनकरजी की रचनाएँ

१. काव्य-संग्रह—रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, हुङ्कार, धूप-छाँह, सामधेनी, बापू।

२. महाकाव्य—कुरुक्षेत्र।

३. आलोचना—मिट्टी की ओर।

दिनकरजी की सभी रचनाएँ उदयाचल, पटना से प्रकाशित होती हैं। वह अपनी पुस्तकों का स्वयं प्रकाशन करते हैं।

दिनकरजी हिन्दी के क्रान्तदर्शी कवि हैं। उनकी कविता हृदय को झकझोर डालती है। वर्तमान भारत की दलित आत्मा उनकी कविता में जाग-सी उठी है। इस दृष्टि से हिन्दी में अपने समकक्ष वह एक ही कवि हैं और हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। उनकी रचनाओं से हिन्दी को अपार शक्ति मिली है। उन्होंने बिहार के विगत वैभव पर ओजपूर्ण

दिनकरजी की काव्य-साधना

शब्दों में जो रचनाएँ की हैं वह हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति हैं। वर्तमान युग के लगभग सभी कवियों की भाँति अन्तर्वेदना का आभास कराने में वह सफल हैं।

दिनकरजी की रचनाओं में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक रहता है। इसलिए प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न कर देने की शक्ति उनकी रचनाओं में अधिक है। खड़ीबोली के जो दो उत्थान अब तक हुए हैं उनमें से पहले के प्रवर्तक गुप्तजी और दूसरे के प्रसादजी माने जाते हैं। इन दोनों उत्थानों का सुन्दर सामंजस्य हम दिनकरजी की रचनाओं में पाते हैं। 'हुङ्कार' और 'सामधेनी' में यदि उनकी ओजपूर्ण रचनाओं का संकलन है तो द्वन्द्व गीत में उनके दार्शनिक चिन्तन और राग तथा विराग के बीच द्वन्द्व का चित्रण हुआ है। इन्हीं दोनों धाराओं का मेल कुरुक्षेत्र में मिलता है। कुरुक्षेत्र उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस रचना द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसमें उन्होंने एक दार्शनिक कवि की भाँति बड़े कौशल से अतीत की पृष्ठ-भूमि पर वर्तमान को चित्रित किया है। यह वास्तव में नये युग की नयी गीता है। इसकी रचना में प्रवाह, भावों में स्पष्टता और विचारों में युग का प्रतिनिधित्व हुआ है। प्रथम महायुद्ध से द्वितीय महायुद्ध की अवधि तक हमारे देश में जो सांस्कृतिक प्रगति हुई है उसका उत्कृष्ट भावनात्मक चित्रण इसमें हुआ है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा, काव्य और तर्क, अनुभूति और विवेक, बाहुबल और आत्म-बल, प्रवृत्ति और निवृत्ति, हृदय और मस्तिष्क की जो विवेचना इस काव्य में है उसमें भारतीय संस्कृति और समाज-दर्शन का सुन्दर समन्वय है।

दिनकरजी कविता में देशव्यापी जागरण का उच्च स्वर है। उसमें भारत के विगत स्वर्ण युग की सुनहली, किन्तु ममतामयी करुण स्मृति है और वर्तमान समय में लौह शृंखला से जकड़ी हुई आर्य संस्कृति की पतित अवस्था के प्रति असन्तोष। इसी असन्तोष के कारण

वह क्रान्ति चाहते हैं और इसीलिए हम उन्हें क्रान्त-दर्शी कवि कहते हैं। उनका कहना है :—

क्रान्ति-धात्रि ! जाग उठ
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखंड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ॥

दिनकरजी की ऐसी रचनाओं में गति है, भावों की तीव्रता है, विचारों की प्रौढ़ता है और हुङ्कार की भीषण चोट है। उन्हें पढ़ते ही हमारा पौरुष जाग उठता है।

दिनकरजी की समस्त रचनाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं। उनकी एक प्रकार की वे रचनाएँ हैं जिनमें राष्ट्रीय कल्पनाओं का समावेश है। उनकी ऐसी रचनाओं में प्राणों की तड़प है, क्रान्ति का उद्‌घोष है, हृदय की ज्वाला है और दासता की वेदना के प्रति अच्छा विद्रोह है। पीड़ित मानव और दलित समाज के प्रति उनकी सहानुभूति इतनी प्रबल है कि वह प्रत्येक पंक्ति से फूट निकली है। जितनी परस्पर विरोधी भावनाएँ हमारे युग को व्याकुल कर रही हैं उनके सार को उन्हों ने अपनी ऐसी रचनाओं में इतनी कुशलता से, इतने ओज और प्रवाह के साथ अंकित किया है कि पाठक उनके साथ बह जाता है। राष्ट्रीय भावधारा को अपने युग के अनुसार चित्रित करने में गुप्तजी के पश्चात् दिनकरजी का ही स्थान है।

दिनकरजी की दूसरी प्रकार की रचनाएँ विश्व-भावना से सम्बन्ध रखती हैं। इन रचनाओं में उनका कवि विश्व-कल्याण की ओर अग्रसर हुआ है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। विश्व-बन्धुत्व के वह इच्छुक और पोषक हैं और अपने कल्याण के साथ-साथ जगत का कल्याण चाहते हैं। इससे उनकी रचनाएँ बहुत-कुछ ऊँची उठ गयी हैं। वह विश्व में क्रान्ति द्वारा शान्ति चाहते हैं। विश्व की विषम परिस्थितियाँ उन्हें उसी तरह उद्वेलित करती हैं जिस प्रकार उन्हें

अपने देश की परिस्थितियाँ चैन नहीं लेने देतीं। इसलिए उनकी भावना विश्व-व्यापी हो उठी है।

दिनकरजी के स्वभाव में प्रकृति के प्रति एक अबोध आकर्षण है। वह सब प्रकार के प्राकृतिक व्यापारों से एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करते हैं। इसलिए उनके प्रकृति-चित्रण सजीव और मार्मिक होते हैं। छवि-दर्शन तथा उसके यथार्थ अंकन के कारण उनमें गीतात्मकता की अपेक्षा कथात्मकता अधिक है। फलतः वह गीति शैली के कलाकार न होकर विभिन्न विषयों पर ही कविताएँ अधिक लिखते हैं।

दिनकर की भाषा और शैली

दिनकरजी की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। वह अपनी भाषा में अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक करते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त पुष्ट और भावानुकूल होता है। इसलिए भावों की शिथिलता उनकी भाषा में कहीं नहीं पायी जाती। उनकी भाषा उनके विचारों का पूर्णरूप से समर्थन करती है। उनका प्रत्येक शब्द उनके विचारों का सच्चा वाहक और प्रतीक होता है। इसलिए उसका प्रभाव स्थायी रूप से हृदय पर पड़ता है। क्लिष्ट शब्द-योजना उनकी भाषा में नहीं है। भावों के अनुरूप ही उनकी भाषा सरल, सुबोध, सुलझी हुई और प्रांजल है। शब्दों का तोड़-मरोड़ और व्याकरण की अशुद्धियों से उनकी भाषा मुक्त है। उसमें ओज अधिक है। उसकी प्रत्येक पंक्ति से वीर रस छलका पड़ता है। शाब्दिक चमत्कार तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना उसमें नहीं है। लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी उसमें नहीं के बराबर है। इसलिए उनकी शैली अत्यन्त परिमार्जित और प्रौढ़ है। कल्पना की ऊँची उड़ान न होने के कारण उसमें सरलता और भाषा का ऐश्वर्य भी पाया जाता है। उनकी छन्द-योजना नवीन है और उसपर उनका पूरा अधिकार है। अलंकारों के प्रयोग में स्वाभाविकता है। इसलिए उनकी समस्त रचनाओं में भाव और भाषा का सामंजस्य बराबर मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकरजी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी भाषा में ओज, उनके भावों में क्रान्ति की ज्वाला और उनकी शैली में प्रवाह है। उनकी प्रतिभा कथात्मक है। अतीत के चित्रों को अपनी भावना के अनुकूल सजाने में वर्तमान युग का कोई कवि उनकी तुलना में नहीं ठहर सकता। उनकी प्रत्येक पंक्ति भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्राण बनकर बोलती है और हमारी भावनाओं को उद्वेलित करती है। वह नवयुवकों के कवि हैं। पतितों और भूखे नंगों के प्रति उनके हृदय में अपार करुणा है। इसी करुणा के बल पर उनका समस्त कवित्व आधारित है और हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य में उनकी रचनाओं का एक विशिष्ट स्थान है।
